अन्य वास्तव, जिसके श्राद्ध में ब्राह्मणभोजन कराते हैं, उसके लिए किया गया श्राद्ध इस लोक और परलोक में फलप्रद नहीं होता।"

प्राकृतलक्षणसूत्रम्/८/१/७७) इस नियम के अनुसार 'अपेलक' के 'प' का लोप हो जाने पर 'अ' शेष रहा और 'अइलक' इस स्थिति में वृद्धिसन्धि (अ+इ=ऐ) होने पर 'ऐलक' पद बन गया। वस्तुतः में 'अ' (नञ्) से 'ईषद्' अर्थ लेने पर 'ऐलक' शब्द अल्पवस्त्रधारी (केवल एक कौपीनधारी) उत्कृष्ट (एकादशप्रतिमाधारी) श्रावक का अर्थ देता है। (देखिये, व्युत्पत्ति-प्रकरण/ भारतीय ज्ञानपीठ काशी/१९५२ ई०/प्रस्तावना/पृ०५३)। क्षुल्लक जी सिद्धान्त चर्चा में भी 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' (भाग १/पृ०४८-४९) में पण्डित जी के इस मत का उल्लेख कर इसे मान्यता प्रदान की है। किन्तु, पण्डित जी का यह मत स्वीकरणीय नहीं है। उपर्युक्त नियम के अनुसार 'प' का लोप होने से अतिरिक्त 'ए' उद्भूत हुआ है। अतः 'अपेक्षेदृशे' (हैम प्राकृतव्याकरणसूत्रम्/८/१/८) सूत्र के अनुसार पूर्ववर्ती 'अ' के स्थान पर 'ऐ' नहीं हो सकता, जैसे सिद्धान्तः > सिद्धन्तो, रत्नवीकः > रत्नवीओ। अतः प्राकृत में 'ऐलक' शब्द नहीं बन सकता। यदि सन्धि मानी भी जाय तो भी प्राकृत में 'ऐ', 'औ' स्वरों का अस्तित्व न होने से 'ऐलक' शब्द सिद्ध होना असंभव है। प्राकृत ग्रन्थों में संस्कृत 'अपेलक' का 'अइलक' या 'ऐलक' रूप मिलता भी नहीं है, सर्वत्र 'प' श्रुति का स्पष्ट उल्लेख होता है, यथा—'अपेलचरणं' (प्र.सा./त.प्र.३/८), 'अपेलचरणप्रसूतं' (पूर्वो./पृ.३), 'अपेलचर्यादिरूपं' (प.का./पृ. ४२५), 'अपेलत्वे च जो दोषो' (उत्त. पु./ २३/ १९)। अतः 'ऐलक' शब्द न तो प्राकृतभाषा का शब्द है, न ही संस्कृत का। संस्कृत में 'एलक' शब्द उपलब्ध होता है, किन्तु उसका अर्थ एडक (भेड़) है (आप्टेकृत संस्कृत-हिन्दी-कोश)।

इसके अतिरिक्त अल्पचेलक-अर्थ में 'अचेलक' शब्द का प्रयोग तो श्वेताम्बर-आगमों में भी नहीं हुआ है, दिगम्बर-आगमों में होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। उत्तरवर्ती श्वेताम्बर वृत्तिकारों ने अवश्य मुनियों को अचेलता की आवश्यक सिद्ध करने के लिए 'अचेलक' शब्द का अल्पचेलक-अर्थ में प्रयुक्त बतलाने की चेष्टा की है, किन्तु वह असफलचेष्टा है। (देखिये, अध्याय ३/प्रकरण १/शीर्षक ६)। यदि दिगम्बरमत में भी 'अचेलक' शब्द को 'अल्पचेलक' अर्थ का प्रतिपादक मान लिया जाय, तो मुनि के लिए विहित 'अचेलत्व' पूर्णतया से 'अल्पचेलत्व' पूर्णतया अर्थ प्रतिपादित होने से कोई तर्क नहीं रोक सकता, जिससे दिगम्बरजैन-मत में भी सवस्त्रमुक्ति को मान्यता का सिद्ध होना अनिवार्य है। अतः 'अचेलक' शब्द को अल्पचेलक अर्थ का प्रतिपादक किसी भी तरह नहीं मान जा सकता।

प्रतीत होता है स्वामी समन्तभद्र के क्षुल्लक-ऐलक में से पैर भी नहीं जमते। आचार्य कुन्दकुन्द ने उत्कृष्ट श्रावकों के लिंग को उत्कृष्ट लिंग कहा है, किन्तु क्षुल्लक-ऐलक शब्दों का प्रयोग नहीं किया (सूत्रपाहुड/ गा.२१)। स्वामी समन्तभद्र ने भी क्षुल्लक-ऐलक भेद किये बिना ग्यारहवीं-प्रतिमाधारी श्रावक को 'क्षुल्लकउत्कृष्ट' कहा है और

कूर्मपुराण (पूर्वार्ध/अध्याय ३०) के निम्नलिखित श्लोक में भी निर्ग्रन्थों का उल्लेख है। यह मत्स्यपुराण के पूर्वोक्त श्लोक में मान रखता है—

> कापालिनोऽथ निर्ग्रन्थाश्चरन्ति कापालिकास्तथा ये।
> वेदत्रिकत्रिलाशस्थाश्च ये तीर्थविक्रयिणः स्मृताः॥ १/३०/१६॥

अनुवाद—"(कलियुग उपस्थित होने पर) कोई कापालधारी (बौद्ध) साधु होगा, कोई निर्ग्रन्थ (नग्न) तथा कोई कापालिक, कोई वेदों का विक्रय करेगा और कोई तीर्थों का।"

रीजकला प्रभाचन्द्र ने इसका अर्थ जोगीस (भैरोंठे) मात्र धारण करनेवाला किया है तथा उसे 'आर्य' शब्द से अभिहित किया है—"क्षुल्लकश्चासौ कौपीनमात्रधारणात्क्षुल्लकः आर्यशब्दाभिलषितः।" (र.क.श्रा./ वर्धमान १४७)। पं० आशाधर जी ने भी उसे 'आर्य' कहा है। (सा.ध./ ७/ ४८)।

सातवीं-आठवीं शती ई० के दीक्षितकृत पद्मपुराण (१००/३१-४१) में कौपीन-धारी उत्कृष्ट श्रावक के लिए 'क्षुल्लक' शब्द का प्रयोग किया गया है। तत्पश्चात् १०वीं शती ई० के हरिषेणकृत 'बृहत्कथाकोश' में भी 'क्षुल्लक' शब्द व्यवहृत हुआ है। (श्री. पद्मोदय-पद्मावती कथानक/श्लोक २३७-२३८)। किन्तु १२वीं शती ई० के आचार्य वसुनन्दी ने अपने श्रावकाचार (गाथा ३०९-३१०) में क्षुल्लक-ऐलक शब्दों का प्रयोग न कर एकादशप्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावकों के वस्त्रमात्रोत्कृष्ट और द्वितीयोत्कृष्ट, दो ही भेद किए हैं। सत्रहवीं शती ई० में पं० राजमल्ल जी ने अपनी लाटीसंहिता (६/५५) में द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक के लिए एलक शब्द का प्रयोग किया है—"उत्कृष्टः श्रावको द्वेधा क्षुल्लकश्चैल-कस्तथा।" इससे यह निर्विवाद सुनिश्चित प्रतीत होता है कि 'चेलखण्डधरः' के साथ लोक में 'खण्डचेलकः' शब्द भी प्रचलित हुआ और प्राकृत के नियमानुसार स्वरमध्यग 'ए' का लोप होने पर 'खंडइलक' शब्द का निष्पन्न हुआ। परवर्ती प्रयोगकर्ताओं की प्रवृत्तिवश केवल 'एलक' शब्द का प्रयोग होने लगा। संस्कृत में छिन्न और खण्डित के अर्थ में 'खण्डितम्' शब्द उपलब्ध होता है। (आप्टेकृत संस्कृत-हिन्दी कोश)। 'खण्डचेलकः' ऐसा भी शब्द है। अथवा आर्ष शब्द आर्षक > आरक > एरक > एलक, इस तरह 'एलक' शब्द में निष्पन्न हुआ है। 'एलक' शब्द का 'ऐलक'-रूप में प्रचलन छठवीं-सातवीं शताब्दी की कृपा से हुआ है। 'लाटीसंहिता' में 'एलक' शब्द का प्रयोग केवल तीन स्थानों में उल्लिखित हुआ है, यथा-क्षुल्लकश्चैलकः (६/५५), त्रैलक्यः (६/५८)। यहाँ तीनों जगह त्र-एलक:, त्र-एलकः, त्र-एलकः इस प्रकार सन्धिविग्रह किया जाना चाहिए, किन्तु त्र-ऐलक:, त्र-ऐलकः ऐसा विग्रह कर लिया गया, जो समीचीन नहीं है। उच्चारण भी 'एलक' ही किया जाता है, 'ऐलक' (अइलक) नहीं।

अर्हन्तो देवता यत्र निर्ग्रन्थो दृश्यते गुरुः।
दया चैव परो धर्मस्तत्र मोक्षः प्रदृश्यते॥ १/२/३७/१७॥

दृश्यते नास्मिन् धर्मेतु आचार्यत्वप्रधानम्।
यजनं याजनं नास्ति वेदाध्ययनमेव च॥ १/२/३७/१८॥

नास्ति स्वध्या स्वधा दानं स्वधास्वाहाविवर्जितम्।
हव्यकव्यादिकं यत्तिन नैव यज्ञादिका क्रिया॥ १/२/३७/१९॥

पितृणां तर्पणं नास्ति नास्तिथितैस्तर्पणकम्।
श्रुत्वान्य द्वार पृच्छा अर्हतो ध्यानपूजनम्॥ १/२/३७/२०॥

अयं धर्मसमाचारो जैनमार्गे प्रदृश्यते।
श्रुतं सर्वमाख्यातं निजधर्मस्य लक्षणम्॥ १/२/३७/२१॥

अनुवाद—"हम अर्हन्त को देवता और निर्ग्रन्थ मुनि को गुरु मानते हैं, अहिंसा हमारा परमधर्म है और मोक्ष की प्राप्ति परमलक्ष्य। हमारे धर्म में यजन-याजन नहीं होता, न ही वेदों का अध्ययन। न हम सन्ध्या करते हैं, न (श्राद्धों वैश्य) तर्पण और दान। हम स्वाहाकृपूर्वक हवि प्रदान भी नहीं करते और स्वधापूर्वक पितरों का तर्पण नहीं करते। अतिथियों का स्वागत-सत्कार भी इसमें आवश्यक नहीं होता, न विश्वेदेवों को बलि प्रदान की जाती है। हमारे धर्म में अपराक (दिगम्बर मुनि) की पूजा और अर्हन्त का ध्यान ही श्रेष्ठ माना जाता है। ये ही हमारे धर्म के लक्षण हैं।"

उस महात्मा जैन पुरुष के द्वारा इस प्रकार सम्बोधित किये जाने पर राजा वेन ने उसके धर्मों में श्रद्धावान् का वैदिकधर्म का परित्याग कर दिया और जैनधर्म स्वीकार कर लिया। अपने पिता अंग के चेकने पर भी वह नहीं गया। उसके शासन में सम्पूर्ण प्रजा वैदिकधर्म को छोड़कर जैनधर्म हो गई—

एवं सम्बोधितो वेनः पार्थिवत्वं गतः किल।
पुरुषेण तेन जैनेन महात्मनेन मोहितः॥ १/२/३८/१॥

नमस्कृत्य तमः चाटी तस्यैव च दुरात्मनः।
वेदधर्मं परित्यज्य मतमार्हतिकं क्रियम्॥ १/२/३८/२॥

मृगयानां निवृत्तिः स्याद्धेतानां हि वधैव च।
पुण्यात्मस्वमतो धर्मस्तदा नैव प्रवर्तितः॥ १/२/३८/३॥

भर्त्सनपरो लोकः मज्जातस्तस्य शासनात्।
नैव वषाट्च वेदाश्च धर्मशास्त्राङ्गमेतत्॥ १/२/३८/४॥

न दानाध्ययनं विप्रास्तस्मिन्नास्तिक्यसंश्रिते।
एवं धर्मपरोऽभूच्चाटजायां प्रवर्तितम्॥ १/२/३८/५॥

अर्हन्त ब्रह्मणं साधमासनस्थया कृतम्।
न नमाम पितुः पादौ मातुश्चैव दुरात्मनः॥ १/२/३८/६॥

यह पद्मपुराण छठी शती ई० के बाद रचा गया है और इसमें दिगम्बरजैन मुनि द्वारा हजारों वर्ष पूर्व हुए स्वायंभुव मनु के वंशज तथा राजा अंग के पुत्र वेन को जैनधर्म में दीक्षित किये जाने का वर्णन है। इससे सिद्ध है वैदिक पुराणकार दिगम्बरजैनमुनियों को बहुत प्राचीनकाल से रहता आया हुआ मानते थे। यदि इसका प्रणयन विक्रम की छठी शताब्दी में हुआ होता और आचार्य कुन्दकुन्द ने किया होता, तो छठी शताब्दी ई० के बाद के वैदिक पुराणकार उसे इतने प्राचीन होने का श्रेय न देते और छठी शताब्दी के बाद के किसी हिन्दू राजा को कुन्दकुन्द नाम के पुरुष द्वारा जैनधर्म में दीक्षित किये जाने की कथा गढ़ते।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि राजा वेन को जिस मुनि के द्वारा जैनधर्म की दीक्षा दिये जाने की बात कही गई है, उसे नग्न, मयूरपिच्छीधारी और हाथ में कमण्डलु लिये हुए बतलाया गया है तथा उसे 'अपराक' एवं 'निर्ग्रन्थ' शब्दों से अभिहित किया गया है, इससे सुनिश्चित होता है कि यह श्वेताम्बरमत का शिक्षागुरु साधु नहीं था, अपितु दिगम्बर जैन साधु ही था और वैदिक महापुराणों मत्स्य में दिगम्बरजैन मुनि ही 'क्षपणक' एवं 'निर्ग्रन्थ' नामों से अभिहित थे।

२२

कूर्मपुराण (७०० ई०) में निर्ग्रन्थ

कूर्मपुराण ई० सन् ७०० में रचित माना गया है। इसमें दो भाग हैं: पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। द्वितीयभाग अर्थात् उत्तरार्ध के इक्कीसवें अध्याय में कहा गया है—

वृद्धश्रावकनिर्ग्रन्थाः पाञ्चरात्रिकिलो जपः।
कापालिकाः पाशुपताः पाषण्डा ये च तद्विधाः॥ २/२१/३२॥

पाषाणानि हवींष्येषां दुरात्मानस्तु तामसाः।
न तस्य तद्भवेच्छ्राद्धं येषु चेह प्रदृश्यते॥ २/२१/३३॥

अनुवाद—"वृद्धश्रावक (दिगम्बरजैन-धर्मावलम्बी एलक-क्षुल्लक), निर्ग्रन्थ (दिगम्बरजैन मुनि), पाञ्चरात्र-मतों के पक्षी, जपपरायण, पाशुपत तथा इसी प्रकार के

---

१. 'पिच्छ' शब्द शुद्ध है 'पिच्छ' नहीं। प० होरालाल जी जैन सिद्धान्तशास्त्री ने लेखक द्वारा 'पिच्छ' का प्रयोग अशुद्ध माना है। वे कहते हैं कि 'कमण्डलुपिच्छधारी साधु शुद्ध' होता।

१९

कादम्बरी-हर्षचरित (७वीं शती ई०) में क्षपणक, आर्हत, नग्नाटक, मयूरपिच्छधारी

सुप्रसिद्ध संस्कृतगद्यकवि बाणभट्ट राजा हर्ष (६०६-६४७ ई०) के समकालीन थे। इन्होंने अपने प्रसिद्ध गद्यकाव्य 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' में दिगम्बर जैन मुनियों के उल्लेख किये हैं। कादम्बरी के पूर्वभाग में शुकनासेा का वर्णन करते हुए बाणभट्ट ने खेदपंख धारण किये हुए शुकों की उपमा मयूरपिच्छी धारण करनेवाले दिगम्बर जैन मुनियों से दी है—"कैश्चित् क्षपणकैरिव मयूरपिच्छधारिभिः।"[1]

टीकाकार शुकनासोपदेशाध्यायी के भानुचन्द्रगणि ने इनको व्याख्या करते हुए लिखा है—"क्षपणकैरिव दिगम्बरैरिव मयूराणां बर्हिणां पिच्छानि सदानि धारणीयेत्यर्थः। भिक्षा अपि हतमयूरपिच्छधारिणो भवन्तीति श्लेषः।"

आचार्य शुकनास नामों 'सुमर' एवं राजेन्द्र पुत्कार आदी ने भी ऐसा ही व्याख्या की है—"कैश्चित् क्षपणकैः इव = जैनैः दिगम्बरैः इव। मयूरपिच्छबर्हिभिः = मयूराणां शिखिनां पिच्छानि कलापान् बर्हाणि धारयद्भिः तच्छीलैः तैः।" (कादम्बरी / पूर्वभाग, प्रकाशक-चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी)।

हर्षचरित (चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी १९५८ ई०) में भी कई जगह दिगम्बर जैन मुनियों का निर्देश किया गया है—"जैनैः आर्हतैः चरणकुलैः वाराहतिभिः।" (उच्छ्वास २ / पृ.१०३)। "शिखिपिच्छक्षपणकपृथग् इव वनमयूरपिच्छचयचारुभिश्चलनैः।" (उच्छ्वास ३ / पृ.१८३)। "अभिमुखमागतेन शिखिपिच्छलाञ्छनेन नग्नाटकेन।" (उच्छ्वास ६ / पृ.४३-४४)। "अभिमुखमागतेन शिखिपिच्छलाञ्छनेन नग्नाटकेन।" (उच्छ्वास ८ / पृ.३६१-३६२)।

इन उद्धरणों में बाणभट्ट ने दिगम्बरजैन मुनियों को 'मयूरपिच्छधारी', 'क्षपणक' 'आर्हत', 'जैन' और 'नग्नाटक' (नग्नत्वव्रत करनेवाला) शब्दों से निर्दिष्ट किया है।

हर्षचरित के निम्नलिखित कथन में दिगम्बरजैन मुनियों को 'आर्हत' नाम से तथा श्वेताम्बरमुनियों को 'श्वेतपट' नाम से वर्णित किया है—"तत्रमूलतश्चि श्वेतपटैः शाक्यभिक्षुभिः परिव्राजकैः। श्वेतपटैः श्वेतोपलक्षितत्रासनैः। नग्नक्षपणकभेदैः। चरणकुलीनभिन्नतत्कालचर्यैः।"

---

[1] कादम्बरी, पूर्वभाग / पृ.१८८ / प्रकाशक-चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।

२०

भर्तृहरि-वैराग्यशतक (७०० ई०) में त्रिपिच्छधर, दिगम्बर

भर्तृहरि ईसा के सातवें शतक के कवि थे। उनके शतकत्रय बहुत प्रसिद्ध हैं। नीतिशतक, शृंगारशतक और वैराग्यशतक। यद्यपि ये तीनों शतक भर्तृहरि के स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं, तथापि इन्होंने वैराग्यशतक में स्वयं ग्रन्थ को सम्बोधित करते हुए 'त्रिपिच्छधर दिगम्बर मुनि' बनने की प्रेरणा इस प्रकार की है—

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो! भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः॥ ८७॥

वैराग्यशतक के एक अन्य श्लोक में ये कहते हैं—

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं,
विस्तीर्णं वस्त्रमाशाकलकमपगतं तत्प्रधानाग्रपूर्वं।
येषां निःसङ्गताङ्गीकरण-परिणतस्वात्ममात्रोपयोगिन्,
मोक्षायैते मनुष्याः परमसुखभुजः कर्म निर्मूलयन्ति॥ १९॥

अनुवाद—"वे धन्य हैं, जिनका हाथ ही पवित्र भिक्षापात्र है, भ्रमण द्वारा प्राप्त भिक्षा ही जिनका अक्षय भोजन है, दिग्मण्डल दशों दिशाएँ ही जिनका अखण्डित वस्त्र है, जिसमें पृथ्वी ही जिनकी शय्या है, जो असावधान हो जाने से स्वात्म मात्र में रहते हैं तथा दैन्यभाव का त्यागकर कर्मों का विनाश करते हैं।"

भर्तृहरि का दिगम्बरजैन मुनियों के प्रति यह बहुमान सूचित करता है कि उनके समय में उज्जयिनी में दिगम्बर जैन मुनि बड़ी संख्या में विहार करते थे और उनकी चर्या बहुत प्रभावशाली थी।

२१

(वैदिक) पद्मपुराण में निर्ग्रन्थ, क्षपण

(वैदिक) पद्मपुराण में राजा वेन का उपाख्यान आया है। यह वैवस्वत मनु के म य 'स्वायम्भुव' नामक प्रथम मनु का वंशज था। विष्णुपुराण में उसकी वंश-परम्परा इस प्रकार बतलायी गयी है : ब्रह्मा को आत्मा से उत्पन्न स्वायम्भुव मनु > उत्तानपाद > ध्रुव > शिष्टि > रिपु > चाक्षुष > मनु (छटे मनु, जो चक्षुष के पुत्र होने के कारण 'चाक्षुषमनु' कहलाये) > कुरु > अङ्ग > वेन > पृथु।[1] इस तरह वेन

---

[1] पद्मपुराण अंश १, अध्याय ३, श्लोक १६-१९, अंश ५, अध्याय १२, श्लोक १-३, अंश ३, अध्याय १३, श्लोक ३, ५।

वेन स्वायम्भुव मनु की वंशपरम्परा में 'अंग' का पुत्र और 'मृत्यु' (वेणा) का पिता था।"

राजा वेन चक्षुष (छठे) मन्वन्तर और वैवस्वत (सातवें) मन्वन्तर के सन्धिकाल में हुआ था, जैसा कि निम्नलिखित वाक्यों में कहा गया है—"चाक्षुष वैवस्वतयोर्मन्वन्तरयोः सन्धौ लोकोऽयं प्रजापालविरहेण भृशमर्दितः। तत ऋषयः समेत्य मन्त्रयाञ्चक्रिरे धर्मज्ञं जनमेजयितारं वेनमृतस्य तं पृथ्वीराज्येऽभिषिषिचुः। स च धर्मतः प्रजाः स्वाः प्रजा इव चिरं प्रशास्य सादरदत्त नृपतृष्टकर्मे शापान्मलिम्लुचयोनौ जातः।"[२८]

अनुवाद—"चाक्षुष और वैवस्वत-मन्वन्तरों के सन्धिकाल में प्रजापालक के अभाव में प्रजा बड़ी दुःखी थी। तब ऋषियों ने मिलकर मन्त्रणा की और धर्मज्ञ, जनमेजयिता वेन को पृथ्वी के राज्य पर अभिषिक्त कर दिया। उसने प्रजा का धर्मपूर्वक अपनी ही सन्तान के समान चिरकाल तक पालन किया, जब तक कि अनीति करने के कारण उसको मृत्यु विलोक नहीं हो गयी।"

मनुओं की संख्या १४ बतायी गयी है। एक मनु का काल मनुष्यों के ७१ लाख, बीस हजार (७१,२०,०००) वर्षों का होता है। इस प्रकार सातवें वैवस्वत (सातवें मनु वैवस्वत का काल) चल रहा है। इससे सिद्ध होता है कि राजा वेन आज से कई हजार वर्ष पहले हुआ था।

विष्णुपुराण में कहा गया है कि "मृत्यु की 'सुनीथा' नाम की जो कन्या हुई थी, वह 'अंग' के साथ ब्याही गयी थी। उसी से वेन का जन्म हुआ। यह 'मृत्यु' की कन्या का पुत्र अपने मातामह (नाना) के दोष से स्वभाव से ही दुष्टप्रकृति का था। ऋषियों द्वारा राज पद पर अभिषिक्त किये जाने पर उसने घोषणा कर दी कि लोग यज्ञ मनुष्य न यज्ञ करें, न दान, न होम। मैं अकेला यज्ञ का भोक्ता और कर्ता हो मनुष्य हूँ। मैं ही यज्ञानि विभु हूँ।" (विष्णुपुराण अंश १, अध्याय १३/श्लोक ११, १४।)

ऋषियों ने इसे बहुत समझाया, किन्तु जब वह नहीं माना, तब क्रुद्ध होकर उन्होंने मन्त्रपूत कुशों से उसका वध कर दिया। (वही / अंश १ / अध्याय १३ / श्लोक ४८-५१।)

'श्रीमद्भागवतपुराण' (स्कन्ध ४ / अध्याय १४ / श्लोक २-४६) एवं 'महाभारत' (शान्तिपर्व / अध्याय ५९ / श्लोक ९९, १००) में भी राजा वेन का ऐसा ही क्रोध और

---

२७. वही / अंश १ / अध्याय १३ / श्लोक ११, ३८-३९।

२८. पद्ममहापुराण / भाग १-भूमिखण्ड / भूमिका : डॉ. डी. मलरेय पदमनी / पृ. १६।

इसी रीति से उसकी मृत्यु का वर्णन किया गया है। किन्तु, पद्ममहापुराण में उसके वध का कारण नहीं है, अपितु यह कारण है कि ऋषियों ने उसके दाहिने हाथ का मन्थन किया, जिससे उसके पृथु नामक पुत्र की उत्पत्ति हुई। यह अत्यन्त क्रोधी और दण्डधर था। उसके पृथ्वीशासन में राजा वेन पापों और अर्थ का ज्ञाता हो गया और यज्ञकर्मोपद दान कर उसका उपभोग करने के बाद भगवान् विष्णु की कृपा से वैष्णवलोक में पहुँच गया। (पद्ममहापुराण / भाग २ / भूमिखण्ड / अध्याय ३८ श्लोक ३८-४१।)

इस श्लोक पुराणों और 'महाभारत' में राजा वेन की कथा वर्णित होने से सिद्ध है कि वह एक प्रसिद्ध और उल्लेखनीय चरित्रवाला राजा था। उसके यज्ञादि-वैदिकधर्मविरोधी चरित्र से ज्ञात होता है कि उसने जैनधर्म स्वीकार कर लिया था। इसकी पुष्टि उपर्युक्त वैदिक पद्ममहापुराण से होती है। किन्तु, उक्त पुराण के कर्ता ने जैनधर्म को हेय सिद्ध करने के लिए एक काल्पनिक कथा गढ़कर उसे इस तरह प्रस्तुत किया है, जैसे वह पापी नहीं, अपितु पाप से और जैसे राजा वेन ने उसे जानबूझकर प्रहार नहीं किया था, अपितु सुलंग ऋषि के पुनर्जीवन-सम बुद्धि प्राप्त हो जाने के कारण प्रहार किया था। (वैदिक) पद्ममहापुराण के कर्ता ने पद्ममहापुराण (भाग २ / खण्ड २-भूमिखण्ड / अध्याय ३७-३८) में वेन-कथा का वर्णन इस प्रकार किया है—

> जब अंग का पुत्र और स्वायम्भुव मनु का वंशज राजा वेन शासन कर रहा था तब एक पुरुष हाथ में दण्ड धारण करके आया। उसका स्वरूप काला था, आँखें विशाल थीं, सिर मुड़ा हुआ था और देह से महाप्रभा उत्सर्जित हो रही थी। उसकी काँख में मयूरपिच्छों द्वारा बुहारी हुई थी, हाथ में काष्ठनिर्मित कमण्डलु था और वह वैदिक धर्म में वेन दर्शानेवाला आगे आया कह रहा था—
>
> पुरुषः कश्चिद्दायाकरुग्रदण्डविलुम्बनखदा।
> नग्नरूपो महाकायः शितेतुण्डो महाप्रभः॥ २/२/३७/५॥
>
> चार्जनी तिलपुष्पाभां कक्षायां स हि धारयन्।
> दृष्टिनं पानपात्रं तु नासिकेत्याह वेनं॥ २/२/३७/६॥
>
> गलनालो ह्रस्वकायं वेदधर्मविदूषकम्।
> एव वेनं महाराजागमत्कालान्वितः॥ २/२/३७/७॥

यह सुनते, राजा वेन को गलत्रपा में प्रविष्ट हो गया। उसे देखकर वेन ने उस पुरुष से कहा—"तुम कौन हो? यहाँ क्यों आये हो? तुम्हारा धर्म क्या है? तुम्हारा आचार क्या है? सब बताइये।" तब वह पुरुष उत्तर देता है—

या न मिले दोनों स्थितियों में समभाव रखता है, सूने घर, देवालय, हलकुट (कुम्हार की झोंपड़ी), वल्मीक, वृक्षतल, कूटागारशाला (कुम्हार की दालान), अग्निहोत्र, कपीपूर्णिम, पर्वत की गुफा, कन्दरा, गुप्त के कोटर, चिर्दर या स्थण्डिल (चबूतरा) में निवास करता है, किसी चीज के प्रति ममत्व नहीं रखता, अध्यात्मनिष्ठ होकर शुक्लध्यान में लीन रहता है और अशुभकर्मों के निर्मूलन का प्रयत्न करता हुआ, संन्यास से देहत्याग करता है, उस साधु का नाम परमहंस है।"

यहाँ ध्यान देने योग्य है कि 'यथाजातरूपधर' 'निर्ग्रन्थ', 'निष्परिग्रह' शब्दों से आहारग्रहण, शुभ्याचार, देवगृह आदि में निवास, 'शुक्लध्यान' तथा संन्यास से देहत्याग (सल्लेखना), ये पारिभाषिक शब्द और आचार केवल दिगम्बरजैन-मुनियों से सम्बन्ध रखते हैं और दिगम्बरजैन ग्रन्थों में ही उपलब्ध होते हैं। 'यथाजातरूपधर', 'निर्ग्रन्थ' और 'शुक्लध्यान' तो ऐसे शब्द हैं, जो 'जैन' के सम्बन्ध में प्रचलित वैदिक शब्द 'चातुर्याश्रमव्यवस्था' में भी प्रयुक्त नहीं हुए हैं। इससे सिद्ध है कि श्रीमद्भागवतपुराण और जाबालोपनिषद् में वर्णित पारमहंस्यधर्म भगवान् ऋषभदेव के द्वारा उपदिष्ट दिगम्बरजैन-मुनिधर्म का ही अनुकरणरूप है।

पारमहंस्यधर्म का यह स्वरूप नारदपरिव्राजकोपनिषद्, परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्, तुरीयातीतोपनिषद्, संन्यासोपनिषद्, याज्ञवल्क्योपनिषद् और भिक्षुकोपनिषद् में भी मिलता है।

पारमहंसोपनिषद् में परमहंसभिक्षु को अवधूताख्य (दिगम्बर) कहा गया है—"स परमहंस आवृताशाम्बरो, न नमस्कारो, न स्वाहाकारो, न पिण्डो, न तर्पणादिविधिरो भवेत्स भिक्षुः।" (ईशादिनौ परमहंसोपनिषद् / पृ.१५०)।

[illegible]निषद् (अनुच्छेद १२) में संन्यासियों के चार भेद बताये हैं—"वैणवासंन्यासी [illegible] न्यासेन्यासी कर्मसंन्यासीति चातुर्विध्यमुपागतः।" (ईशादिनौ / पृ.११२ [illegible]ी वैणवसंन्यास और ज्ञानसंन्यास का अभ्यास तथा अनुपम [illegible] प्राप्त करने के लिए जातरूपधर (नग्न) हो जाता है या [illegible] हता है—

[illegible]तेषां [illegible]न्त्य सर्वानुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपानुभवानेन देहमात्रावि[illegible] [illegible]त्य जातरू[illegible] भवति स ज्ञानवैराग्यसंन्यासी।" (संन्यासो. / ईशादिनौ / १३ / पृ.[illegible] ३)।

यद्यपि कहीं-कहीं परमहंस संन्यासी के लिए कौपीनधारण करने का भी विकल्प दिया गया है, किन्तु अन्ततः दिगम्बर होने की अनिवार्यता [illegible] गयी है। संन्यासोपनिषद्

में संन्यासियों के अन्य चार भेदों का वर्णन है—कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत।[19] इनमें प्रथम चार को कौपीनधारी बताया गया है और शेष दो को दिगम्बर[illegible]—

"कुटीचकः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेषु करपात्री एककौपीनधारी झोली-बैल्वदंडैक वैणवं दण्डमेकजाटीधरो वा भस्मोद्धूलनपरः सर्वत्यागी। तुरीयातीतो गोमुख-वृत्त्या फलाहारी अनाहारी वेदं गृहत्ये देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुलपत्रवत्तीत-तृणीकः। अवधूतस्त्वेवमेव पतितोन्मत्तबालजडवृत्तिकं सर्वजातीयजगत्कृत्याहारपरः स्वात्मसुखध्यानपरः।" (परमहंसोपनिषद् / ईशादिनौ / १३ / पृ.४१३)।

नारदपरिव्राजकोपनिषद् (७) में कहा गया है कि कुटीचक दो जटाएँ धारण करे, बहूदक एक जटा, हंस एक वस्त्रखंड, परमहंस दिगम्बर रहे या एक कौपीन पहने, तुरीयातीत और अवधूत दिगम्बर रहें—

"जटाद्वयं कुटीचकस्य, बहूदकस्यैकजटी, हंसस्य खण्डं, दिगम्बरः परमहंसस्य एककौपीनं वा, तुरीयातीतावधूतयोर्नास्त्युपाधारत्वम्।" (ईशादिनौ / पृ.२७८)।

पारमहंसपरिव्राजकोपनिषद् में वर्णन है कि जब आत्मबुद्धि (परमात्म ज्ञान) हो जाय, तब कुटीचक, बहूदक, हंस अथवा परमहंस सावित्रिक-मंत्रपूर्वक कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड, कमंडलु, और सबसे अन्त में शिखासूत्र का जातरूपधर (दिगम्बर) हो जाय—

"यदात्मबुद्धिर्भवेत्तदा कुटीचको वा बहूदको वा हंसो वा परमहंसो वा सावित्रिकपूर्वकं कटिसूत्रं कौपीनं दण्डं कमण्डलुं सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरः शिखां।" (ईशादिनौ / पृ.११६)।

तुरीयातीतोपनिषद् में कुटीचक अवस्था से तुरीयातीत और अवधूत अवस्थाओं को प्राप्त करने का क्रम इस प्रकार बतलाया गया है—

"सोऽयमात्मा सावित्रकौपं कुटीचको बहूदकत्वं प्राप्य, बहूदको हंसत्वमवाप्य, हंसः परमहंसो भूत्वा स्वस्वरूपानुसन्धानेन सर्वत्यक्तं विहिन्या दण्डकमण्डलु-कटिसूत्र-कौपीनशाटकं स्वविध्युक्तक्रियादिकं सर्वमप्सु संत्यज्य दिगम्बरो भूत्वा चिदात्मजीवि-षण्मात्रत्रिवर्गेषु-इहमपि मन्यत्व नद्यर्थमयत्नलब्धाहारं क्षीणभ्यङ्गस्नानोर्ध्वपुण्ड्रादिकं विहाय --- शीतोष्ण-सुखदुःखमानावमानं निर्जित्य कामक्रोधलोभमोह-हर्षमदमात्सर्यसंक्षणादिकं दग्ध्वा स्वयमु-कृत्यकार्यादि परमन्त-पलेषनियमेन स्वात्मलाभे सदी कृत्वा गोमुख प्राण-संधारणं

---

19. "स चतुर्धा भवति कुटीचक बहूदक हंस परमहंस-तुरीयातीतावधूताश्चेति।" संन्यासोपनिषद् अनुच्छेद १३ - ईशादिनौ परमहंसोपनिषद् / पृ. ४१३।

कृत्वेदं चरमाणं नेत्रेण निर्गच्छेत्---यदेवादृग्मनो वालोन्मन-पिशाचवदेकाकी मदान्धलक्षाभाक्षयवर। स्वरूपध्यानेन निजलब्धबलेनाऽऽ त्मानंनिहतदृक्कर्मेण सर्वं विस्मृत्य तृणवल्लोनाऽऽत्मपूतमेवेक्षाद्वन्निहाया। एवाबाधाऽऽकलंन देहत्यागं करोति स नोऽऽप्तदृष्टः। स कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषत्।" (ईशादि., पृ. ४१२)।

अनुवाद—"सबसे पहले कुटीचक साधु बहूदक अवस्था को पाता है, फिर बहूदक हंसावस्था का अवलम्बन करे, उदयन्त होता, परमहंस अवस्था में पहुँचे। परमहंस होकर स्वरूपसुमन्थन द्वारा सबको प्रदंय शास्त्रकार दण्ड, कमंडलु, कटिसूत्र, कौपीन और आच्छादन, इन सब को यथाविधि के अनुसार जल में विसर्जित कर दिगम्बर हो जाय। त्रिवर्ण जीर्ण वल्कल तथा अजिन के पीठ का भी त्याग कर दे। तदनन्तर क्षौर, अभ्यङ्ग, (तेलमालिश), स्नान, जलधृत् आदि को त्याग दे तथा खेद-दण्ड, सुख-दुःख, पान-अपमान को जीतकर कामनारहपूर्वक निन्दा, अर्चिता, गर्व, मत्सर, दम्भ, दर्प, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, अमर्ष अमृष, आत्मालंकारादि को दूर कर अपने शरीर को जब के समान समझता हुआ स्वात्म-अवलोक में तत्परता रखते हुए गोचरी द्वारा प्राणधारण करे।---अरा अनुन्मन है, जिन्नु, उन्मत एवं पिशाच के समान अकेला भागता फिरे और किसी से बातचीत न करते हुए स्वात्मन में लीन होकर सब को भूल जाय। इस प्रकार दुरीक्षणेन और अनदृग् को वेष धारणकर अहेत में स्थित रहते हुए, अविद्यानिवृत्ति के साथ जो देहत्याग करता है वह 'अनदृग्' कहलाता है। उसी कृतकृत्य होता है, यह उपनिषत् (आगमवचन) है।"

इस उपनिषद् में यह है कि परमहंस को भी अन्तः कौपीन का परित्याग करना पड़ता है और जब वह कौपीन त्यागकर दिगम्बर हो जाता है, तभी तुरीयातीत एवं अनदृग् अवस्थाओं को प्राप्त होकर मोक्ष का पात्र बनता है। इस प्रकार वैदिक संन्यासमार्ग में भी सवस्त्रमुक्ति की वैकल्पिक व्यवस्था नहीं है। यह दिगम्बरोल्लेख मूलग्रन्थ के परिशीलन से मूलक है। इतना ही नहीं, इस औपनिषदिक संन्यासमार्ग में जो शीतोष्ण सुख-दुःखादि भावों को जीतने, कामसंकल्पविकल्पों के विसर्जन, अलक्ष,[४०] भूतलशयन,[४१] करपात्र या खप्परि में आहारग्रहण, एकभुक्ति[४२] शुक्लध्यान-पारवश्य, शुभाशुभकर्म-निर्मूलन तथा संन्यासपूर्वक (सल्लेखनापूर्वक) देहत्याग[४३] के सिद्धान्त हैं, वे भी दिगम्बर-मुनि-चर्या में ही अनुकूल हैं।

४०. "त्रिकलत्रार्थं कुटीचकस्य, बहूदकस्य द्विज, हंसस्यैकदा, परमहंसस्य यथालब्धं कुटीचकस्य भस्मालब्धं अलभूतस्य याज्ञवल्क्यवत्।" जाबालदर्शनोपनिषद्/ईशादयो/ पृष्ठ ४८६।

४१. "सर्वेषु भूतलशय्या---पात्रेऽभ्यवहारः।" परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्/ईशादयोऽष्टोत्तरशतोपनिषद्/ पृष्ठ ४१९।

४२. "सांयकालपात्रान्नोत्तरे कमण्डलुधारणमेके।" कालदर्शनोपनिषद्/ ईशादयो/ पृष्ठ ४७३।

४३. "शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः--- शुक्लध्यानपरायण:--- संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसपरिव्राजको भवति।" परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्/ ईशादयोऽष्टोत्तरशतोपनिषद्/ पृ.४१९।

१८
खोल के आद्यप्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव

भागवतपुराण एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य पर प्रकाश डालता है, वह यह कि भगवान् ऋषभदेव ही योगशास्त्र के आद्य प्रवर्तक थे। इस पुराण में कहा गया है कि भगवान् विष्णु ने वातरशना (दिगम्बर) ऋषियों के धर्मों को प्रकट करने के लिए भगवान् ऋषभदेव के रूप में अवतार लिया था। उन्होंने परमहंसचर्या और योगियों को साम्यावस्थिति की शिक्षा दी थी—

"वातरशनानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावतारयिष्यन्।" (५/३/२०)।

"योगिनां साम्यावस्थितिमनुशिक्षयन्।" (५/४/४)।

"यो वै भगवान् सम्वृणजहयोगमायया।" (२/७/१०)।

श्रीमद्भागवतपुराण में भगवान् ऋषभदेव को योगेश्वर और भागवतांशावतार कहा गया है—

"भगवान्ऋषभदेवो योगेश्वरः।" (५/४/३)।

"भागवतांशावतारो भगवान् केवलपतिर्वैषभ्ये---।" (५/५/२८)।

भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठपुत्र भरत को भी 'महायोगी' विशेषण से विभूषित किया गया है—"महायोगी भरतो ज्येष्ठः" (५/४/९)।

भगवान् ऋषभदेव का दूसरा नाम 'आदिनाथ' है, क्योंकि वे जैनधर्म्य के चौबीस तीर्थंकरों में आदि तीर्थंकर हैं। इन आदिनाथ ऋषभदेव को वैदिकपरम्परा के प्रसिद्ध योगशास्त्र हठयोगप्रदीपिका में हठयोगविद्या के उपदेशक होने के कारण नमस्कार किया गया है—

श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव॥[४४]

अनुवाद—"मैं श्री आदिनाथ को नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने उस हठयोगविद्या को शिक्षा दी, जो उन्नत राजयोग पर आरोहण के लिए उत्कृष्ट सीढ़ी के समान है।"

४४. श्री श्रीनिवास योगी : 'योगचर्या' 'अनेकान्त' वर्ष १/ किरण ८, ९, ३० पृ. ५३७-५४८।

रूप का लक्षण है। भगवान् ऋषभदेव के इस रूप का वर्णन भागवतपुराण में इस प्रकार किया गया है—

"प्रागवलम्बमान-कुटिल-जटिल-कपिश-केश-भूरिभारोऽवधूतमलिन-निजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत।" (भा.पु./५/५/३१/पृ.२११)।

यद्यपि भगवान् ऋषभदेव अखिल लोकपालों के आभूषण थे, तथापि उनके विलक्षण जड़वत् अवधूतीय वेश, भाषा और आचरण से उनका भगवत्प्रभाव परिलक्षित नहीं होता था—

"अथैवमखिल-लोकपाल-ललामोऽपि विलक्षणैर्जडवदवधूतवेषभाषाचरितैरविलक्षितभगवत्प्रभावो योगिनां साम्परायविधिमनुशिक्षयन् स्वकलेवरं जिहासुरात्मन्यात्मानमसंव्यवहितमनर्थान्तरभावेनान्वीक्षमाण उपरतानुवृत्तिरुपरराम।" (भा.पु./५/६/६/पृ.२१२)।

वे बहुत दिनों तक दक्षिण के कर्नाटक आदि देशों में बिखरे हुए बालों-सहित नग्न विचरण करते रहे—"मुक्तमूर्धजोऽसंवीत एव विचचार।" (भा.पु.५/६/७/पृ.२१२) इसे भागवतपुराणकार ने जड़योगचर्या कहा है—

नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनु-
र्यो वै चचार समदृग् जडयोगचर्याम्।
यत्पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति
स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसङ्गः॥ २/७/१०॥

अर्थात् भगवान् ऋषभदेव की उपर्युक्त वीतराग, शरीरादि से उदासीन, दिगम्बर-चर्या का नाम ही पारमहंस्य, अवधूतसंन्यास एवं जड़योग है। इसके द्वारा उन्हें अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हुईं, जैसे आकाशगमन, मन के समान तीव्रगति, अन्तर्धान, परकायप्रवेश, दूरग्रहण (इन्द्रियों की सीमा से बाहर के विषय को भी ग्रहण करना) आदि, किन्तु भगवान् ने इनमें रुचि नहीं ली। इसके बाद उन्हें कैवल्य एवं परमानन्द की अवस्था प्राप्त हो गई—

"इति नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिरृषभोऽविरतपरम-महानन्दानुभव आत्मनि सर्वेषां भूतानामात्मभूते भगवति वासुदेव आत्मनोऽव्यवधानानन्तरोदरभावेन सिद्धसमस्तार्थपरिपूर्णो योगैश्वर्याणि वैहायसमनोजवान्तर्धान-परकायप्रवेश-दूरग्रहणादीनि यदृच्छयोपगतानि नाञ्जसा नृप हृदयेनाभ्यनन्दत्।" (भा.पु./५/५/३५/पृ.२११-२१२)।

भगवान् ऋषभदेव के सौ पुत्र थे, जिनमें ज्येष्ठ पुत्र का नाम भरत था। उन्हीं के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा—"येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति।" (भा.पु./५/४/९/पृ.२०८)।

भरत भी महायोगी थे। उन्होंने भी जड़योग, पारमहंस्य अथवा अवधूत-संन्यास ग्रहण किया था, इसलिए वे जड़भरत कहलाये।[१७] उपनिषदों में उन्हें अन्य परमहंस-संन्यासियों में परिगणित किया गया है—"अथ परमहंसा नाम संवर्तकारुणि-श्वेतकेतु-जडभरत-दत्तात्रेय-शुक-वामदेव-हारीतकप्रभृतयोऽष्टौ।"[१८]

१७

जाबालोपनिषद् में दिगम्बरजैन-मुनिधर्मवत् पारमहंस्यधर्म

भगवान् ऋषभदेव ने जिस दिगम्बरजैनमुनि-धर्मरूप पारमहंस्यधर्म की शिक्षा दी थी उसका स्वरूप जाबालोपनिषद् में वर्णित किया गया है। वह प्रायः दिगम्बर जैन शास्त्रों में वर्णित दिगम्बरजैन-मुनिधर्म से मिलता है। पारिभाषिक शब्दावली भी वही की वही है। यथा—

"तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणि-श्वेतकेतु-दुर्वास-ऋभु-निदाघ-जडभरत-दत्तात्रेय-रैवतक-प्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तस्त्रिदण्डं कमण्डलुं, शिक्यं, पात्रं, जलपवित्रं, शिखां, यज्ञोपवीतं चेत्येतत् सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्। यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहस्तत्तद्ब्रह्ममार्गे सम्यक्सम्पन्नः शुद्ध-मानसः प्राणसन्धारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभयोः समोभूत्वा शून्यागार-देवगृह-तृणकूट-वल्मीक-वृक्षमूल-कुलालशालाग्निहोत्रगृह-नदी-पुलिन-गिरिकुहर-कन्दर-कोटर-निर्झर-स्थण्डिलेषु तेष्वनिकेतवास्यप्रयत्नो निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठोऽशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नाम परमहंसो नामेति।" (जाबालो./ईशाद्यष्टो./पृ.१३१)।

अनुवाद—"संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ, जड़भरत, दत्तात्रेय, रैवतक आदि परमहंस संन्यासी हैं। इनका लिंग (वेश) और आचार स्पष्ट नहीं होता। ये विक्षिप्त नहीं होते, लेकिन विक्षिप्तों जैसा आचरण करते हैं, त्रिदण्ड (परस्पर बँधे तीन दण्ड), कमण्डलु, झोली (शिक्य), पात्र, पानी छानने का वस्त्र (जलपवित्र), शिखा और यज्ञोपवीत (जनेऊ), इन सबको 'भूः स्वाहा' यह मन्त्र पढ़ते हुए जल में विसर्जित कर आत्मा का अन्वेषण करते हैं। जो यथाजातरूपधारी (जन्म के समय जैसा रूप होता है वैसे रूप अर्थात् नग्नरूप का धारी), निर्ग्रन्थ (नग्न), निष्परिग्रह, ब्रह्ममार्ग में सम्यक्सम्पन्न और शुद्धमानस होता है, प्राणधारण करने के लिए निर्धारित काल में भिक्षाचरण करता हुआ उदरपात्र में ही भोजन ग्रहण करता है, भिक्षा मिले

१७. भागवतपुराण / स्कन्ध ५ / अध्याय ७-१४।
१८. भिक्षुकोपनिषद् / ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद् / पृ. ३६८।

और जड़भरत का चरित्र अत्यन्त प्रेरणास्पद है। भागवत के दसवें और ग्यारहवें स्कन्ध श्रीकृष्ण की लीलाओं के वर्णन के लिए प्रसिद्ध तथा अत्यन्त लोकप्रिय रहे हैं।[1]

यह पूर्व (शीर्षक १) में कहा जा चुका है कि भागवतपुराण के वर्णनानुसार भगवान् विष्णु ने राजा नाभि का पिण्ड करने के लिए महारानी मेरुदेवी के गर्भ से ऋषभदेव के रूप में अवतार लिया था, जिसका उद्देश्य था वातरशना-श्रमण-ऋषियों के धर्म (दिगम्बर जैनधर्म) को प्रकट करना—

"अवतीर्णः किलानेन विष्णुदत्त! भगवान् वासुदेवांशः प्रायशिश्चिकीर्षया मामेव पितरमनन्यविषयाणामात्मविद्यानां आचरितोपदेशाय मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार।" (भा.पु./५/३/२०/पृ.२०३-२०६)।

भागवतपुराण का यह भी कथन है कि ऋषभदेव ने महामुनियों को भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षण परमहंस धर्म की शिक्षा देने के लिए अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत का राज्याभिषेक कर स्वयं घर में ही समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया और उन्मत्त के समान वस्त्र हो गये, केशों का संस्कार करना छोड़ दिया, जिससे वे अस्नातावस्था में गंदे और जटिल हालत में ब्रह्मावर्त से चल पड़े—

"महापुरुषोऽयं भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षणं पारमहंस्यधर्ममुपशिक्षमाणः स्वतनयशतज्येष्ठं परमभागवतं भगवज्जनपरायणं भरतं धरणिपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोर्ध्वमन्थि-शरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रव्रव्राज।" (भा.पु./५/३/१८/पृ.२११)।

इस तरह भागवतपुराण में भी ऋषभदेव को दिगम्बरजैन मुनियों के ही धर्म का प्रवर्तक बतलाया है, श्वेताम्बरजैन मुनियों के धर्म का नहीं। अर्थात् उन्होंने एकवस्त्र, वल्कल या (जम) मुनियों के ही धर्म का प्रवर्तन किया था, चेलखण्ड (सवस्त्र) मुनियों के धर्म का उपदेश रूप में भी प्रवर्तन नहीं किया और ६०० वर्ष के भागवतपुराणकार

ऋषभदेव को ही दिगम्बरजैनधर्म का प्रवर्तक कहता है, अर्थात् कुन्दकुन्द को

इससे सिद्ध है कि दिगम्बरजैन-परम्परा भागवत-पुराण के रचनाकाल से भी बहुत पूर्वकाल[2] है, उतनी ही पुरानी जितनी भागवतपुराण के रचयिता ने बतलायी है और ऋषभदेवकालीन। तथा भागवत के अनुसार ऋषभदेव 'स्वायम्भुव' नाम के प्रथम मनु की चौथी पीढ़ी में (स्वायम्भुवमनु - प्रियव्रत, आग्नीध्र, नाभि और ऋषभ) हुए थे। अतः मन्वन्तर-कालगणना के अनुसार दिगम्बरजैनधर्म कम से कम कई करोड़ वर्ष प्राचीन सिद्ध होती है, यह पूर्व में दर्शाया जा चुका है। (देखिये, शीर्षक १०.१)। पुनः भागवत् ऋषभदेव का जन्म ब्रह्मावर्त में हुआ था,

[1] वही / पृ. ८०।

न कि दक्षिणापथ में, इससे यह सिद्ध होता है कि दिगम्बरजैन-परम्परा का जन्म उत्तरभारत में ही हुआ था, दक्षिणभारत में नहीं। इस प्रकार 'श्रीमद्भागवतमहापुराण' दिगम्बरजैन-धर्मका को उत्तरभारतीय प्रमाणित करने वाला महत्त्वपूर्ण वैदिक ग्रन्थ है।

१६
ऋषभदेव का वैदिकधारा पर प्रभाव

विष्णुपुराण और भागवतपुराण में एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आता है। वह यह कि विष्णुपुराण के अनुसार मयमोह ने और भागवतपुराण के अनुसार ऋषभदेव ने एकमात्र नग्नमुनि-धर्म का ही प्रवर्तन किया था, वस्त्र और अवस्त्र (अचेल और सचेल) दोनों प्रकार के मुनिधर्मों का नहीं। वैदिक ऋषियों ने भी भगवान् ऋषभदेव से दिगम्बर-मुनिधर्म की ही शिक्षा ग्रहण की थी। यह बात भागवतपुराण एवं ऋग्वेदादि से प्रमाणित होती है।

भागवतपुराण के पूर्वोद्धृत वाक्यों में कहा गया है कि विष्णु के अवतार भगवान् ऋषभदेव ने पारमहंस्य धर्म की शिक्षा दी थी, जो भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षण है। पूर्वोद्धृत वाक्यों में यह भी कहा गया है कि भगवान् विष्णु ने वातरशना (दिगम्बर) ऋषियों के धर्म का उपदेश देने के लिए ऋषभदेव के रूप में अवतार लिया था। इससे सिद्ध है कि पारमहंस धर्म में दिगम्बरत्व की प्रधानता है। परमहंसमार्ग की अन्तिम अवस्था अवधूत-अवस्था है, जिसमें वह जड़ के समान, अन्धे-पुंगे और बहिरे के समान तथा पिशाच के समान उन्मादक रूप हो जाता है। भागवतपुराण के अनुसार भगवान् ऋषभदेव इस अवस्था में पहुँच गये थे—

"जडान्ध-मूकबधिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीत-मौनव्रतस्तूष्णीं बभूव।" (भा.पु./५/५/२९/पृ.२११)।

जड़ के समान हो जाने का अर्थ है सांसारिक पदार्थों के प्रति क्रियाशून्य हो जाना, चेतनता हो जाना, उनसे सुख-दुःख का अनुभव न करना। मूक के समान हो जाने का मतलब है शुभाशुभवचनप्रवृत्ति न करना, अन्धे होने का अभिप्राय है चक्षु-इन्द्रिय के विषय को देखकर भी न देखना अर्थात् उसमें राग-द्वेष न करना, बधिर होने से तात्पर्य है श्रोत्रेन्द्रिय के विषय को सुनकर भी न सुनना अर्थात् उसमें आसक्त न होना। उन्मत्त से विरक्त हो जाने के कारण परमहंसमार्गी न तो स्नानादि द्वारा शरीर का संस्कार करता है, इसलिए बाल बिखरे रहते हैं, शरीर पर मैल चढ़ जाता है, जिससे वह नंगधड़ंग, मैले-कुचैले, कोझरूप के कारण पागल (उन्मत्त या पिशाचग्रस्त मनुष्य) के समान लगता है। यह भी उसके अज्ञात

मनुष्यों के तेंतालीस लाख, बीस हजार (४३,२०,०००) वर्षों का होता है। इसे को ब्रह्मा का १/१४ दिन चलती है, क्योंकि इस प्रकार के १४ कल्पों का योग ब्रह्मा का एक पूरा दिन होता है। इन चौदह कल्पों में से प्रत्येक का अभिधान-मनु पृथक्-पृथक् है। इस प्रकार के छह कल्प बीत चुके हैं। इस समय हम सातवें मन्वन्तर में रह रहे हैं।[१८] इससे परिलक्षित होता है कि वैदिक (हिन्दू) ग्रन्थों के अनुसार ब्रह्मा स्वयंभुव मन्वन्तर में उत्पन्न प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव आज से लगभग (४३,२०,०००×६ - २,५९,२०,०००) दाई करोड़ वर्ष पहले हुए थे। वे वातरशना-श्रमणधर्म (दिगम्बरमुनिधर्म) के उपदेशक थे।[१९] इससे सिद्ध होता है कि दिगम्बर जैन-परम्परा वैदिक मान्यता के अनुसार भी कम से कम ढाई करोड़ वर्ष प्राचीन है।

१०.२. दिगम्बरजैनधर्म विष्णुपुराणकार के समय से अतिप्राचीन

महर्षि विष्णुपुराणकार ने लिखा है कि ऋषभदेव नग्नावस्था में प्रव्रजित हुए थे, तबसे वे इस तथ्य से अभिज्ञ थे कि ऋषभदेव ही जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर थे अथवा यदि वे इस तथ्य को जानते थे, तो उन्होंने जानबूझकर इसकी उपेक्षा की है और वैदिक धर्म के आंशिक अन्य भारतीय धर्मों को अधर्म सिद्ध करने के लिए जैनधर्म और बौद्धधर्म को 'मायामोह' अर्थात् अज्ञान या अविद्या-जनित दर्शाते हुए अपने अनुयायियों को रक्षा करने में असमर्थ बतलाया है। विष्णुपुराण (अंश ३/अध्याय १७,१७,१८) में मुनि पराशर और शिष्य मैत्रेय के संवाद द्वारा जैनधर्म, बौद्धधर्म और चार्वाकमत की उत्पत्ति इस प्रकार बतलायी गयी है—

पराशर मुनि मैत्रेय को गृहस्थ के सदाचार का उपदेश देते हुए कहते हैं कि नपुंसक, अभिशप्त (गुरुपत्नी द्वारा अभिशप्त), चाण्डाल, श्वान, नग्न, रजस्वला स्त्री आदि की दृष्टि पड़ जाने पर देवताओं तथा पितृगण श्राद्ध में अपना भाग नहीं लेते, अतः किसी लिये हुए स्नान में श्राद्धकर्ता को नग्न नहीं होना चाहिए।[२०] इस पर मैत्रेय प्रश्न करते हैं—"भगवन्! अभिशप्त और रजस्वला आदि को तो मैं अच्छी तरह जानता हूँ, किन्तु यह नहीं जानता कि 'नग्न' किसे कहते हैं? अतः आप यही बतलाइये कि नग्न कौन कहलाता है?" तब मुनि पराशर उत्तर देते हैं—"हे द्विज! मनुष्य स्त्रियों की वासना को करुण, मांस और मद्य-इन तीन वस्तुओं से बढ़ती है, अतः जो पुरुष मोह में इनका त्याग कर देता है, वह 'नग्न' संज्ञा प्राप्त करता है"—

१८. देखिए, वही।

१९. देखिये, आचार्य हरिषेण रचित 'बृहत्कथाकोश' (९३२ ई.) में वातरशना श्रमण, ऋषभदेवस्तवन।

२०. विष्णुपुराण / अंश ३ / अध्याय १७ / श्लोक १५-१६।

अन्यत्रुत्सार्यमंत्रेयं यदी वर्णावृणिर्द्विज।
एतामुक्तिं यो मोहात्स नग्नः पतको द्विजः॥ ३/१७/५॥

इसके बाद पराशर मुनि मैत्रेय को 'नग्न' के विषय में यह बात बताते हैं, जो पाराशर मुनि के पितामह वसिष्ठ ने भीष्म से कही थी। वे कहते हैं कि पूर्वकाल में किसी समय सौ दिव्य वर्ष तक देवों और असुरों में युद्ध हुआ। उसमें 'ह्राद' आदि दैत्यों द्वारा देवगण पराजित हुए। तब उन्होंने भगवान् विष्णु की स्तुति की। उससे प्रसन्न होकर उन्होंने दर्शन दिये। देवों ने भगवान् से प्रार्थना की, कि 'ह्राद' प्रभृति दैत्यों ने ब्रह्माजी की आज्ञा का भी उल्लंघन कर हमारे और त्रिलोकी के यज्ञभाग का आहरण कर लिया है। ये वर्णाश्रम का पालन करनेवाले, वेदज्ञ-ब्राह्मणभक्त एवं तपोनिष्ठ हैं, अतः हमारे द्वारा उनका वध नहीं हो सकता। इसलिए भगवन्! ऐसा कोई उपाय बतलाइये कि हम उनका वध करने में समर्थ हों। उनके ऐसा कहने पर भगवान् विष्णु ने अपने शरीर से मायामोह को उत्पन्न किया और देवताओं को देकर कहा कि यह मायामोह उन सम्पूर्ण दैत्यों को मोहित कर देगा, जिससे वे वेदधर्म से च्युत हो जायेंगे। तब तुम उनके वध में समर्थ हो जाओगे।[२१]

मायामोह देवों के साथ वहाँ से गया, जहाँ असुरगण सन्ध्या कर रहे थे। उसने दिगम्बरजैन मुनि का रूप धारण किया अर्थात् नग्नवेश, मुण्डितकेश और हाथ में मयूरपिच्छी लिये हुए प्रकट हुआ और असुरों से बोला-"हे दैत्यश्रेष्ठो! आप लोग लौकिक फल की इच्छा से तप कर रहे हैं या पारलौकिक?"—

ततो दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपिच्छधरो द्विज।
मायामोहोऽसुरान् श्लक्ष्णमिदं वचनमब्रवीत्॥ ३/१८/२॥

हे दैत्यगणो यूयं यदर्थं तप्यते तप:।
ऐहिकं वाथ पारत्र्यं तपसः फलमिप्सथ॥ ३/१८/३॥

असुर बोले—"हम लोग पारलौकिक फल की कामना से तप कर रहे हैं।" तब दिगम्बरजैन-मुनिवेशधारी मायामोह ने अनेक प्रकार के युक्तिपूर्ण उपदेश देकर उन्हें वैदिक मार्ग से च्युत कर दिया। वे उपदेश इस प्रकार थे-"यह धर्म का कारण है और अकारण भी है, यह सत् भी है और असत् भी, यह मुक्ति का मार्ग है और नहीं भी है, यह सन्मार्ग है और असन्मार्ग भी है, यह कल्याण भी है और अकल्याण भी, यह ऐसा ही है और ऐसा नहीं भी है, यह दिगम्बरों का धर्म है और यह वस्त्रधारियों का।" मायामोह ने ऐसे अनेक प्रकार के अनेकान्तवाद दर्शाये, जिससे दैत्यों ने अपना वैदिकधर्म छोड़ दिया। उसने दैत्यों से कहा कि आप लोग इस महापाप को 'आर्हत'

२१. विष्णुपुराण / अंश ३ / अध्याय १७ / श्लोक ७-११।

करें अर्थात् उसका आदर करें, अतः इस धर्म का अवलम्बन करने से वे 'आर्हत' कहलाये। इसके बाद उन्होंने अन्य दैत्यों को इस धर्म में प्रवृत्त किया, और अन्य दैत्यों ने अन्यों को। इस प्रकार थोड़े ही दिनों में दैत्यों ने वेदत्रयी का त्याग कर दिया—

> एवं प्रकारैर्बहुभिर्युक्तिदर्शनकर्कशैः।
> मायामोहेन ते दैत्या वेदमार्गादपाकृताः॥ ३/१८/८॥
>
> अन्यैश्चैतद्वधार्थाय सदेवान् सहितानपि।
> विष्णुरूपं त्रिदं दैत्यैर्दृष्ट्वा सम्यग्व्यधास्यति॥ ३/१८/९॥
>
> पाषाणोऽयमपात्रार्थं पाषाणौ न चाप्यवम्।
> कार्यमेतदकार्यं च दैत्यैरेवं स्फुटं त्रिदम्॥ ३/२/१०॥
>
> दिगम्बरत्वमयमं धर्मो धर्मोऽयं बहुवाससाम्॥ ३/१८/११॥
>
> इत्यनेकान्तवादं च मायामोहेन वैकधा।
> तेन दर्शयता दैत्याः स्वधर्मे त्याजिता द्विज॥ ३/१८/१२॥
>
> अर्हतैतं महाधर्मं मायामोहेन ते यतः।
> प्रोक्तास्तमाश्रिता धर्ममार्हतास्तेन तेऽभवन्॥ ३/१८/१३॥

इसके बाद मायामोह ने रक्तवस्त्र धारणकर अर्थात् बौद्ध भिक्षुक बनकर अन्य असुरों को बौद्ध धर्म ग्रहण कराया—

> पुनश्च रक्ताम्बरभृद् मायामोहो जितेन्द्रियः।
> अन्यानाहासुरान् गत्वा मुद्गल्यमधृक्षरान्॥ ३/१८/१५॥
>
> स्वर्गार्थं यदि वो वाञ्छा निर्वाणार्थमथासुराः।
> तदानं पशुघातादिदुष्टधर्मैर्निबोधत॥ ३/१८/१७॥
>
> विज्ञानमयमेकैकदुःखस्कन्धक्षणक्षयात्।
> बुध्यध्वं मे वचः सम्यग्बुद्धिरेषोदितम्॥ ३/१८/१८॥

मायामोह ने कई असुरों को चार्वाकमत में भी दीक्षित किया, जिससे वे वेदनिंदा भी खूब करने लगे। जैसे, यदि अश्वमेध यज्ञों के द्वारा देवता-लोग करोड़ों वर्ष तक स्वर्ग आदि फल का ही भोजन करता पड़ता है, तो इससे तो पशे स्वर्गप्राप्त पशु ही अच्छा है। यदि यज्ञ में बलि किये गये पशु को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, तो यजमान अपने पिता को ही क्यों नहीं मार डालता?—

> यज्ञैरनेकदेवत्वमवाप्यैतेन भुज्यते।
> शस्यादि यदि चैतत्स्याद् तद्वो पशुभक्ष्यम्॥ ३/१८/२६॥
>
> निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते।
> स्वपिता यजमानेन किन्नु तस्मान्न हन्यते॥ ३/१८/२८॥

इस प्रकार दैत्यों के चित्तोत्साह में प्रवृत्त हो जाने पर देवगण अच्छी तैयारी करके उनके पक्ष युद्ध के लिए उपस्थित हुए और पुनः देवासुरसंग्राम हुआ, जिसमें दैत्यगण देवताओं के द्वारा मारे गये।[२२]

विष्णुपुराण के उपर्युक्त श्लोकों में 'दिग्वास', 'मुण्ड', 'मयूरपिच्छधारी', 'दिग्वासों का धर्म' तथा 'अनेकान्तवाद' आदि शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि पुराणकार ने दिगम्बरजैन मुनि का वर्णन किया है। यद्यपि मायामोह द्वारा दैत्यों को जैनधर्म और बौद्धधर्म में दीक्षित किये जाने की कथा कल्पित है, क्योंकि बौद्धधर्म देवासुरसंग्राम के समय में था ही नहीं, तथापि वह कल्पना तीसरी-चौथी शताब्दी ई० में रचे गये विष्णुपुराण के रचयिता ने की है, इससे स्पष्ट है कि ये धर्म पुराणकार के समय से इतने अधिक प्राचीन थे कि उसने देवासुरसंग्राम के समय में भी बौद्धधर्म का अस्तित्व मान लिया। दिगम्बर जैनधर्म तो भगवान् ऋषभदेव के युग से चला आ रहा था, अतः उसमें दैत्यों के दीक्षित किये जाने की कल्पना असंगत सिद्ध नहीं होती।

११
मुद्राराक्षस नाटक (४००-५०० ई०) में क्षपणक, जीवसिद्धक

'मुद्राराक्षस' संस्कृत साहित्य का एक प्रसिद्ध नाटक है। इसके रचयिता विशाखदत्त हैं। विद्वानों ने इसका समय चौथी शताब्दी ई० का उत्तरार्ध और पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्ध बतलाया है।[२३] नाटक में नन्दवंश का अन्त होने पर उसके 'राक्षस' नामक वीर अमात्य को चाणक्य द्वारा चन्द्रगुप्त का अमात्य बनाये जाने के प्रयत्न की कथा अंकित है। इसमें चाणक्य अपने इन्दुशर्मा नामक महफ्ती को क्षपणक (दिगम्बरजैन मुनि) का वेश धारण कराकर जीवसिद्धि नाम से गुप्तचर का काम कराता है। वह क्षपणक राक्षस का इधर-उधर घूमता है।

चतुर्थ अंक में यह क्षपणक राक्षस से मिलने जाता है। अमात्य राक्षस को द्वारपाल सूचना देता है कि क्षपणिक आपके द्वार पर प्रतीक्षा कर रहे हैं। वैदिक सम्प्रदाय में सम्प्रदायिक काम से क्षपणक (नग्न जैन मुनि) के दर्शन अशुभ माने जाते थे।

---

२२. विष्णुपुराण / अंश ३ / अध्याय १८ / श्लोक ३३-३४।
२३. डॉ. एस.एन.लाहिरी : संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास / पृ. २८५।

ने यज्ञव्यवहार से उन्हें मत्त कर दिया।[11] इस कथा से जैनधर्म अतिप्राचीन सिद्ध होता है।

वर्तमानयुग के लोग कहलाते हुए मत्स्यपुराण (अध्याय १४४) में कहा गया है कि इस युग में राजा लोग अधिकांशतः शूद्रयोनि के होते हैं और कापालव्रतधारी (बौद्ध), निष्कच्छ (जैन) तथा नग्नक्षपणक आदि पाषण्डियों की प्रवृत्तियाँ बढ़ जाती हैं—

राजानः शूद्रभूयिष्ठाः पाषण्डानां प्रवृत्तयः।
कापालिव्रतश्च निष्कच्छानक्षा क्षपणकस्तथा ह॥ १४४/४०॥

मत्स्यपुराण की अन्य प्रतियों में 'कापालिव्रतश्च' के स्थान में 'नग्नलक्ष्य च' एवं 'निष्कच्छाः' के स्थान में 'निर्ग्रन्थाः'[12] पाठ मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि तीसरी शती ई० के पूर्वार्ध में निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के नग्न साधु विद्यमान थे।

१०
विष्णुपुराण (३००-४०० ई०) में नाभि, मेरुदेवी, ऋषभ, भरत, ब्राह्म, दिगम्बर, अर्हद्विचक्षधर, आर्हत, अनेकान्तवाद

डॉ० आर० सी० हाजरा ने पुराणों पर महत्त्वपूर्ण शोध कार्य किया है। उन्होंने विष्णुपुराण का रचनाकाल तीसरी-चौथी शताब्दी ई० बतलाया है।[13] इसमें चौथे और पाँचवें राजाओं का विवरण है, गुप्तकालीन राजाओं के नाम नहीं हैं। पुराणों में प्राचीनता और धर्म तथा दर्शन के विकासक्रम की प्रामाणिकता के कारण विष्णुपुराण का विशेष महत्त्व है।[14] इसके द्वितीय अंश में आद्य जैन तीर्थंकर ऋषभ, उनके माता-पिता नाभि एवं मरुदेवी तथा पुत्र भरत का वर्णन किया गया है और तृतीय अंश में जैन और बौद्ध सम्प्रदायों का विवरण है।

१०.१. भगवान् ऋषभदेव प्रथम मनु स्वायंभुव के पाँचवें वंशज

विष्णुपुराण (अंश २/अध्याय १) के निम्नलिखित श्लोकों में प्रथम जैन तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव को १.स्वायंभुव मनु, २.प्रियव्रत, ३.आग्नीध्र, ४.नाभि एवं

११. गतवत्सु नरेष्वाद्यान् वैवस्वतसुतादिषु।
विनष्टायां सायायां वेदवाद्यां च वेदविद्॥ २४/४७॥
वेदवेदीपरिध्वंसनष्टकर्मा पितृक्षयात्।
वेदबाह्यान् परिज्ञाय हेतुवादसमन्वितान्॥ २४/४८॥
जघान यज्ञो पशवे सर्वज्ञस्तेनाहमृत्विजः॥ २४/४९॥

१२. मत्स्यपुराण / ज० वि० / १४४ / ४० / पृ. ३११।

१३. डॉ. गोपालचन्द्र त्रिपाठी : संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास / पृ. ७०।

१४. वही / पृ. ८१।

५.ऋषभ, इस क्रम से स्वायंभुव मनुक प्रथम मनु की पाँचवीं पीढ़ी[15] में उत्पन्न बतलाये गये हैं—

श्रीमैत्रेय उवाच—

प्रियव्रतोत्तानपादौ सुतौ स्वायम्भुवस्य यौ।
त्वयोक्तस्तस्य पादस्य ध्रुवः पुत्रस्तपोदिवः॥ २/१/३॥

प्रियव्रतस्य नैवोक्ता भवता द्विज! सन्ततिः।
तावहं श्रोतुमिच्छामि प्रसन्नो वक्तुमर्हसि॥ २/१/४॥

श्रीपराशर उवाच—

चर्दम्यात्मजां कन्यामुपयेमे प्रियव्रतः।
सम्राट् कुक्षिश्च तत्कन्ये दशपुत्रास्तथोर्ध्वरे॥ २/१/५॥

महाप्रभा महावीर्या विनीता दयिता पितुः।
प्रियव्रतसुतः खात्यमेषां नामानि मे शृणु॥ २/१/६॥

आग्नीध्रमग्निबाहुञ्च वपुष्मन्तुतिरांस्तथा।
मेधा मेधातिथिर्भव्यः सवनः पुत्र एव च॥ २/१/७॥

ज्योतिष्मान्द्युतिमांश्चैव सत्यनामा सुतोऽष्टमः।
हिरण्यस्य पुत्राश्च प्रख्याता वत्सरोपमाः॥ २/१/८॥

मेधातिथिमुपुत्रास्तु यज्ञे भोगपरायणाः।
जातिस्मरा महाभाग न राज्याय मनो दधुः॥ २/१/९॥

निर्मलाः सर्वकालेषु सत्यसन्धेषु ते मुने।
चक्रुः क्रियां पञ्चयज्ञसम्पत्तिलाभकाङ्क्षिणो हितैः॥ २/१/१०॥

प्रियव्रतो वदौ तेषां भगवान् मुनि सत्तम!
सप्तद्वीपपतिः पैत्रेयः विभज्य सुतहास्यताम्॥ २/१/११॥

जम्बूद्वीपं महाभाग! आग्नीध्राय ददौ पिता।
मेधातिथेनाथ प्रादात्प्लक्षद्वीपं तथापरम्॥ २/१/१२॥

शाल्मले च वपुष्मन्तं नरेन्द्रयधिपतिं व्यधात्।
ज्योतिष्मन्तं कुशद्वीपे राजानं कृतवान्प्रभुः॥ २/१/१३॥

द्युतिमन्तं च राजानं क्रौञ्चद्वीपे समादिशत्।
शाक द्वीपेश्वरं चापि भव्यं चक्रे पितामहः॥ २/१/१४॥

१५. वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला-ग्रन्थांक ५ / अध्याय १ / ४ में भी इसी क्रम से भगवान् ऋषभदेव को स्वायंभुव मनु की पाँचवीं पीढ़ी में उत्पन्न दर्शाया गया है।

करें अर्थात् उसका आदर करें, अतः इस धर्म का अवलम्बन करने से वे 'आर्हत' कहलाये। इसके बाद उन्होंने अन्य दैत्यों को इस धर्म में प्रवृत्त किया, और अन्य दैत्यों ने अन्यों को। इस प्रकार थोड़े ही दिनों में दैत्यों ने वेदत्रयी का त्याग कर दिया—

> एवं प्रकारैर्बहुभिर्युक्तिदर्शनकर्कशैः।
> मायामोहेन ते दैत्या वेदमार्गादपाकृताः॥ ३/१८/८॥
>
> अन्यैश्चैतद्वधार्थाय सदेवान् सहितानपि।
> विष्णुरूपं त्रिदं दैत्यैर्दृष्ट्वा सम्यग्व्यधास्यति॥ ३/१८/९॥
>
> पाषाणोऽयमपात्रार्थं पाषाणौ न चाप्यवम्।
> कार्यमेतदकार्यं च दैत्यैरेवं स्फुटं त्रिदम्॥ ३/२/१०॥
>
> दिगम्बरत्वमयमं धर्मो धर्मोऽयं बहुवाससाम्॥ ३/१८/११॥
>
> इत्यनेकान्तवादं च मायामोहेन वैकधा।
> तेन दर्शयता दैत्याः स्वधर्मे त्याजिता द्विज॥ ३/१८/१२॥
>
> अर्हतैतं महाधर्मं मायामोहेन ते यतः।
> प्रोक्तास्तमाश्रिता धर्ममार्हतास्तेन तेऽभवन्॥ ३/१८/१३॥

इसके बाद मायामोह ने रक्तवस्त्र धारणकर अर्थात् बौद्ध भिक्षुक बनकर अन्य असुरों को बौद्ध धर्म ग्रहण कराया—

> पुनश्च रक्ताम्बरभृद् मायामोहो जितेन्द्रियः।
> अन्यानाहासुरान् गत्वा मुद्गल्यमधृक्षरान्॥ ३/१८/१५॥
>
> स्वर्गार्थं यदि वो वाञ्छा निर्वाणार्थमथासुराः।
> तदानं पशुघातादिदुष्टधर्मैर्निबोधत॥ ३/१८/१७॥
>
> विज्ञानमयमेकैकदुःखस्कन्धक्षणक्षयात्।
> बुध्यध्वं मे वचः सम्यग्बुद्धिरेषोदितम्॥ ३/१८/१८॥

मायामोह ने कई असुरों को चार्वाकमत में भी दीक्षित किया, जिससे वे वेदनिंदा भी खूब करने लगे। जैसे, यदि अश्वमेध यज्ञों के द्वारा देवता-लोग करोड़ों वर्ष तक स्वर्ग आदि फल का ही भोजन करता पड़ता है, तो इससे तो पशे स्वर्गप्राप्त पशु ही अच्छा है। यदि यज्ञ में बलि किये गये पशु को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, तो यजमान अपने पिता को ही क्यों नहीं मार डालता?—

> यज्ञैरनेकदेवत्वमवाप्यैतेन भुज्यते।
> शस्यादि यदि चैतत्स्याद् तद्वो पशुभक्ष्यम्॥ ३/१८/२६॥
>
> निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते।
> स्वपिता यजमानेन किन्नु तस्मान्न हन्यते॥ ३/१८/२८॥

इस प्रकार दैत्यों के चित्तोत्साह में प्रवृत्त हो जाने पर देवगण अच्छी तैयारी करके उनके पक्ष युद्ध के लिए उपस्थित हुए और पुनः देवासुरसंग्राम हुआ, जिसमें दैत्यगण देवताओं के द्वारा मारे गये।[२२]

विष्णुपुराण के उपर्युक्त श्लोकों में 'दिग्वास', 'मुण्ड', 'मयूरपिच्छधारी', 'दिग्वासों का धर्म' तथा 'अनेकान्तवाद' आदि शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि पुराणकार ने दिगम्बरजैन मुनि का वर्णन किया है। यद्यपि मायामोह द्वारा दैत्यों को जैनधर्म और बौद्धधर्म में दीक्षित किये जाने की कथा कल्पित है, क्योंकि बौद्धधर्म देवासुरसंग्राम के समय में था ही नहीं, तथापि वह कल्पना तीसरी-चौथी शताब्दी ई० में रचे गये विष्णुपुराण के रचयिता ने की है, इससे स्पष्ट है कि ये धर्म पुराणकार के समय से इतने अधिक प्राचीन थे कि उसने देवासुरसंग्राम के समय में भी बौद्धधर्म का अस्तित्व मान लिया। दिगम्बर जैनधर्म तो भगवान् ऋषभदेव के युग से चला आ रहा था, अतः उसमें दैत्यों के दीक्षित किये जाने की कल्पना असंगत सिद्ध नहीं होती।

११
मुद्राराक्षस नाटक (४००-५०० ई०) में क्षपणक, जीवसिद्धक

'मुद्राराक्षस' संस्कृत साहित्य का एक प्रसिद्ध नाटक है। इसके रचयिता विशाखदत्त हैं। विद्वानों ने इसका समय चौथी शताब्दी ई० का उत्तरार्ध और पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्ध बतलाया है।[२३] नाटक में नन्दवंश का अन्त होने पर उसके 'राक्षस' नामक वीर अमात्य को चाणक्य द्वारा चन्द्रगुप्त का अमात्य बनाये जाने के प्रयत्न की कथा अंकित है। इसमें चाणक्य अपने इन्दुशर्मा नामक महफ्ती को क्षपणक (दिगम्बरजैन मुनि) का वेश धारण कराकर जीवसिद्धि नाम से गुप्तचर का काम कराता है। वह क्षपणक राक्षस का इधर-उधर घूमता है।

चतुर्थ अंक में यह क्षपणक राक्षस से मिलने जाता है। अमात्य राक्षस को द्वारपाल सूचना देता है कि क्षपणिक आपके द्वार पर प्रतीक्षा कर रहे हैं। वैदिक सम्प्रदाय में सम्प्रदायिक काम से क्षपणक (नग्न जैन मुनि) के दर्शन अशुभ माने जाते थे।

---

२२. विष्णुपुराण / अंश ३ / अध्याय १८ / श्लोक ३३-३४।
२३. डॉ. एस.एन.लाहिरी : संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास / पृ. २८५।

करें अर्थात् उसका आदर करें, अतः इस धर्म का अवलम्बन करने से वे 'आर्हत' कहलाये। इसके बाद उन्होंने अन्य दैत्यों को इस धर्म में प्रवृत्त किया, और अन्य दैत्यों ने अन्यों को। इस प्रकार थोड़े ही दिनों में दैत्यों ने वेदत्रयी का त्याग कर दिया—

> एवं प्रकारैर्बहुभिर्युक्तिदर्शनकर्कशैः।
> मायामोहेन ते दैत्या वेदमार्गादपाकृताः॥ ३/१८/८॥
>
> अन्यैश्चैतद्वधार्थाय सदेवान् सहितानपि।
> विष्णुरूपं त्रिदं दैत्यैर्दृष्ट्वा सम्यग्व्यधास्यति॥ ३/१८/९॥
>
> पाषाणोऽयमपात्रार्थं पाषाणौ न चाप्यवम्।
> कार्यमेतदकार्यं च दैत्यैरेवं स्फुटं त्रिदम्॥ ३/२/१०॥
>
> दिगम्बरत्वमयमं धर्मो धर्मोऽयं बहुवाससाम्॥ ३/१८/११॥
>
> इत्यनेकान्तवादं च मायामोहेन वैकधा।
> तेन दर्शयता दैत्याः स्वधर्मे त्याजिता द्विज॥ ३/१८/१२॥
>
> अर्हतैतं महाधर्मं मायामोहेन ते यतः।
> प्रोक्तास्तमाश्रिता धर्ममार्हतास्तेन तेऽभवन्॥ ३/१८/१३॥

इसके बाद मायामोह ने रक्तवस्त्र धारणकर अर्थात् बौद्ध भिक्षुक बनकर अन्य असुरों को बौद्ध धर्म ग्रहण कराया—

> पुनश्च रक्ताम्बरभृद् मायामोहो जितेन्द्रियः।
> अन्यानाहासुरान् गत्वा मुद्गल्यमधृक्षरान्॥ ३/१८/१५॥
>
> स्वर्गार्थं यदि वो वाञ्छा निर्वाणार्थमथासुराः।
> तदानं पशुघातादिदुष्टधर्मैर्निबोधत॥ ३/१८/१७॥
>
> विज्ञानमयमेकैकदुःखस्कन्धक्षणक्षयात्।
> बुध्यध्वं मे वचः सम्यग्बुद्धिरेषोदितम्॥ ३/१८/१८॥

मायामोह ने कई असुरों को चार्वाकमत में भी दीक्षित किया, जिससे वे वेदनिंदा भी खूब करने लगे। जैसे, यदि अश्वमेध यज्ञों के द्वारा देवता-लोग करोड़ों वर्ष तक स्वर्ग आदि फल का ही भोजन करता पड़ता है, तो इससे तो पशे स्वर्गप्राप्त पशु ही अच्छा है। यदि यज्ञ में बलि किये गये पशु को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, तो यजमान अपने पिता को ही क्यों नहीं मार डालता?—

> यज्ञैरनेकदेवत्वमवाप्यैतेन भुज्यते।
> शस्यादि यदि चैतत्स्याद्धतं पशुभक्ष्यम्॥ ३/१८/२६॥
>
> निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते।
> स्वपिता यजमानेन किन्नु तस्मान्न हन्यते॥ ३/१८/२८॥

इस प्रकार दैत्यों के चित्तोत्सर्ग में प्रवृत्त हो जाने पर देवगण अच्छी तैयारी करके उनके पक्ष युद्ध के लिए उपस्थित हुए और पुनः देवासुरसंग्राम हुआ, जिसमें दैत्यगण देवताओं के द्वारा मारे गये।[२२]

विष्णुपुराण के उपर्युक्त श्लोकों में 'दिग्वास', 'मुण्ड', 'मयूरपिच्छधारी', 'दिग्वासों का धर्म' तथा 'अनेकान्तवाद' आदि शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि पुराणकार ने दिगम्बरजैन मुनि का वर्णन किया है। यद्यपि मायामोह द्वारा दैत्यों को जैनधर्म और बौद्धधर्म में दीक्षित किये जाने की कथा कल्पित है, क्योंकि बौद्धधर्म देवासुरसंग्राम के समय में था ही नहीं, तथापि वह कल्पना तीसरी-चौथी शताब्दी ई० में रचे गये विष्णुपुराण के रचयिता ने की है, इससे स्पष्ट है कि ये धर्म पुराणकार के समय से इतने अधिक प्राचीन थे कि उसने देवासुरसंग्राम के समय में भी बौद्धधर्म का अस्तित्व मान लिया। दिगम्बर जैनधर्म तो भगवान् ऋषभदेव के युग से चला आ रहा था, अतः उसमें दैत्यों के दीक्षित किये जाने की कल्पना असंगत सिद्ध नहीं होती।

११
मुद्राराक्षस नाटक (४००-५०० ई०) में क्षपणक, जीवसिद्धि

'मुद्राराक्षस' संस्कृत साहित्य का एक प्रसिद्ध नाटक है। इसके रचयिता विशाखदत्त हैं। विद्वानों ने इसका समय चौथी शताब्दी ई० का उत्तरार्ध और पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्ध बतलाया है।[२३] नाटक में नन्दवंश का अन्त होने पर उसके 'राक्षस' नामक वैश्य अमात्य को चाणक्य द्वारा चन्द्रगुप्त का अमात्य बनाये जाने के प्रयत्न की कथा वर्णित है। इसमें चाणक्य अपने इन्दुशर्मा नामक महफ्ती को क्षपणक (दिगम्बरजैन मुनि) का वेश धारण कराकर जीवसिद्धि नाम से गुप्तचर का काम कराता है। वह अमात्य राक्षस का छद्म-मित्र बन जाता है।

चतुर्थ अंक में यह अमात्य राक्षस से मिलने जाता है। अमात्य राक्षस को द्वारपाल सूचना देता है कि क्षपणिक आपके द्वार पर प्रतीक्षा कर रहे हैं। वैदिक सम्प्रदाय में सम्प्रदायिक काम से क्षपणक (नग्न जैन मुनि) के दर्शन अशुभ माने जाते थे।

---

२२. विष्णुपुराण / अंश ३ / अध्याय १८ / श्लोक ३३-३४।
२३. डॉ. एस.एन.लाहिरी : संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास / पृ. २८५।

ने यज्ञव्यवहार से उन्हें मत्त कर दिया।[11] इस कथा से जैनधर्म अतिप्राचीन सिद्ध होता है।

वर्तमानयुग के लोग कहलाते हुए मत्स्यपुराण (अध्याय १४४) में कहा गया है कि इस युग में राजा लोग अधिकांशतः शूद्रयोनि के होते हैं और कापालव्रतधारी (बौद्ध), निष्कच्छ (जैन) तथा नग्नक्षपणक आदि पाषण्डियों की प्रवृत्तियाँ बढ़ जाती हैं—

राजानः शूद्रभूयिष्ठाः पाषण्डानां प्रवृत्तयः।
कापालिव्रतश्च निष्कच्छानक्षा क्षपणकस्तथा ह॥ १४४/४०॥

मत्स्यपुराण की अन्य प्रतियों में 'कापालिव्रतश्च' के स्थान में 'नग्नलक्ष्य च' एवं 'निष्कच्छाः' के स्थान में 'निर्ग्रन्थाः'[12] पाठ मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि तीसरी शती ई० के पूर्वार्ध में निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के नग्न साधु विद्यमान थे।

१०
विष्णुपुराण (३००-४०० ई०) में नाभि, मेरुदेवी, ऋषभ, भरत, ब्राह्म, दिगम्बर, अर्हद्विचक्षधर, आर्हत, अनेकान्तवाद

डॉ० आर० सी० हाजरा ने पुराणों पर महत्त्वपूर्ण शोध कार्य किया है। उन्होंने विष्णुपुराण का रचनाकाल तीसरी-चौथी शताब्दी ई० बतलाया है।[13] इसमें चौथे और पाँचवें राजाओं का विवरण है, गुप्तकालीन राजाओं के नाम नहीं हैं। पुराणों में प्राचीनता और धर्म तथा दर्शन के विकासक्रम की प्रामाणिकता के कारण विष्णुपुराण का विशेष महत्त्व है।[14] इसके द्वितीय अंश में आद्य जैन तीर्थंकर ऋषभ, उनके माता-पिता नाभि एवं मरुदेवी तथा पुत्र भरत का वर्णन किया गया है और तृतीय अंश में जैन और बौद्ध सम्प्रदायों का विवरण है।

१०.१. भगवान् ऋषभदेव प्रथम मनु स्वायंभुव के पाँचवें वंशज

विष्णुपुराण (अंश २/अध्याय १) के निम्नलिखित श्लोकों में प्रथम जैन तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव को १.स्वायंभुव मनु, २.प्रियव्रत, ३.आग्नीध्र, ४.नाभि एवं

११. गतवत्सु नरेष्वाद्यान् वैवस्वतसुतादिषु।
विनष्टायां सायायां वेदवाद्यां च वेदविद्॥ २४/४७॥
वेदवेदीपरिध्वंसनष्टकर्मा पितृक्षयात्।
वेदबाह्यान् परिज्ञाय हेतुवादसमन्वितान्॥ २४/४८॥
जघान यज्ञो पशवे सर्वज्ञस्तेनाहमृत्विजः॥ २४/४९॥

१२. मत्स्यपुराण / ज० वि० / १४४ / ४० / पृ. ३११।

१३. डॉ. गोपालचन्द्र त्रिपाठी : संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास / पृ. ७०।

१४. वही / पृ. ८१।

५.ऋषभ, इस क्रम से स्वायंभुव मनुक प्रथम मनु की पाँचवीं पीढ़ी[15] में उत्पन्न बतलाये गये हैं—

श्रीमैत्रेय उवाच—

प्रियव्रतोत्तानपादौ सुतौ स्वायम्भुवस्य यौ।
त्वयोक्तस्तस्य पादस्य ध्रुवः पुत्रस्तपोदिवः॥ २/१/३॥

प्रियव्रतस्य नैवोक्ता भवता द्विज! सन्ततिः।
तावहं श्रोतुमिच्छामि प्रसन्नो वक्तुमर्हसि॥ २/१/४॥

श्रीपराशर उवाच—

चर्दम्यात्मजां कन्यामुपयेमे प्रियव्रतः।
सम्राट् कुक्षिश्च तत्कन्ये दशपुत्रास्तथोर्ध्वरे॥ २/१/५॥

महाप्रभा महावीर्या विनीता दयिता पितुः।
प्रियव्रतसुतः खात्यमेषां नामानि मे शृणु॥ २/१/६॥

आग्नीध्रमग्निबाहुञ्च वपुष्मन्तुतिरांस्तथा।
मेधा मेधातिथिर्भव्यः सवनः पुत्र एव च॥ २/१/७॥

ज्योतिष्मान्द्युतिमांश्चैव सत्यनामा सुतोऽष्टमः।
हिरण्यस्य पुत्राश्च प्रख्याता वत्सरोपमाः॥ २/१/८॥

मेधातिथिमुपुत्रास्तु यज्ञे भोगपरायणाः।
जातिस्मरा महाभाग न राज्याय मनो दधुः॥ २/१/९॥

निर्मलाः सर्वकालेषु सत्यसन्धेषु ते मुने।
चक्रुः क्रियां पञ्चयज्ञसम्पत्तिलाभकाङ्क्षिणो हितैः॥ २/१/१०॥

प्रियव्रतो वदौ तेषां भगवान् मुनि सत्तम!
सप्तद्वीपपतिः पैत्रेयः विभज्य सुतहास्यताम्॥ २/१/११॥

जम्बूद्वीपं महाभाग! आग्नीध्राय ददौ पिता।
मेधातिथेनाथ प्रादात्प्लक्षद्वीपं तथापरम्॥ २/१/१२॥

शाल्मले च वपुष्मन्तं नरेन्द्रयधिपतिं व्यधात्।
ज्योतिष्मन्तं कुशद्वीपे राजानं कृतवान्प्रभुः॥ २/१/१३॥

द्युतिमन्तं च राजानं क्रौञ्चद्वीपे समादिशत्।
शाक द्वीपेश्वरं चापि भव्यं चक्रे पितामहः॥ २/१/१४॥

१५. वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला-ग्रन्थांक ५ / अध्याय १ / ४ में भी इसी क्रम से भगवान् ऋषभदेव को स्वायंभुव मनु की पाँचवीं पीढ़ी में उत्पन्न दर्शाया गया है।

तत्कुलका चापिमाह—"भगवन्! वेदुप्पहं पुनद्वमंम्। तं भक्तो बहुकालंव अहवंनि। सत्यदं पुनः पुस्तकाखडलोग्गनि कारंयनि बहुमूल्यनि प्रयुच्छिकृतानि। तब पुनाकलां लेखकाय लेखकार्व च विनं खिन्नजायते। तत्सार्थका कालोंयनि कार्यम्।" अहो तत्रिलेऽपि व्यतृहं गतः। ततः च तत्का खदिरस्यं लघुदं राजीकृत्य कपाटपुटां दृढी समाधाय सप्तभिरहोरात्रसमयं भूतोऽपि विहाद्वापार्कित्य सर्वान् उत्तेजं लिखयमासे पुस्तकांतरं व्यतृहयनत्। तेऽपि सर्वे कपंटविलोपेन परिश्रिताः अल्पकात् परिलाभ्य बहुमनसत्तत्र पुस्तके ददुः। अथवा गाथिकमुच्यते—

एकाकी गृहसन्यस्तः पात्रीकृत्यां दिगम्बरः।
कौडपि संवाहते लोके कृष्णा पश्य कौतुकम्॥"

(पञ्चतन्त्र / अपरीक्षितकारक)

संवांत को इस कथा से ज्ञात होता है कि ईसा की तीसरी शताब्दी में जैनेतर सम्प्रदाय के लोग भी दिगम्बरजैन मुनियों के प्रति आदरांजलि किये जानेवाले विन्योपचार, उनके द्वारा दिये जानेवाले आशीर्वाद के प्रकार एवं उनकी आहारचर्या की पद्धति से सुपरिचित थे, जो इस बात का प्रमाण है कि दिगम्बरजैन मुनिसम्प्रदाय ईसा की तीसरी शताब्दी से भी बहुत पहले अस्तित्व में था।

८

भासकृत 'अविमारक' (३०० ई०) में वस्त्रविहीन श्रमण

महाकवि भास संस्कृत के सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। वे कालिदास के पूर्ववर्ती हैं, क्योंकि कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में इनका उल्लेख किया है। ए० बी० कीथ कालिदास का समय ४०० ई० के लगभग मानते हैं, अतः उनके अनुसार भास ३०० ई० के लगभग विद्यमान थे। किन्तु डॉ० जगदीश उपाध्याय ने अन्तरंग और बहिरंग प्रमाणों के आधार पर कहा है कि भास का समय पंचम या चतुर्थ शती विक्रमपूर्व मानना न्यायसंगत है।[८] डॉ० राधाकृष्ण शिंदेजी, डॉ० सत्यकेतु शास्त्री, म० म० हरप्रसाद शास्त्री तथा ए० डी० पुसालकर इन सभी विद्वानों के आधार पर भास की स्थिति ईसा से चार या पाँच शताब्दी पूर्व निर्धारित मानते हैं।[९]

भास ने अपने नाटक 'अविमारक' में नग्न श्रमण का उल्लेख किया है। विदूषक नर्तकिका से कहता है—

८. संस्कृतसाहित्य का इतिहास / पृ.४९६-४९७।
९. संस्कृतसाहित्य का अभिनव इतिहास / पृ.१२७-१२८।

"आम् भोदि! अप्पोवगीदेण वण्हणो, जीवेण रमणट्ठो। जदि वत्थं आलंबेमि सव्वओ होमि।" (चेटम अंक / पृष्ठ १८३)।

अनुवाद—"हाँ, देवि! मैं स्वोपगीत श्रवण करने से ब्राह्मण हूँ, जीवन पहन लूँ तो रत्नपट (बौद्ध) हो जाऊँगा और यदि वस्त्र उतार दूँ तो श्रमण बन जाऊँगा।"

इससे स्पष्ट होता है कि भास के युग में दिगम्बरजैन मुनियों का अस्तित्व था। इतना ही नहीं, उनके समय में दिगम्बरजैन मुनि ही 'श्रमण' शब्द से प्रसिद्ध थे और उनके विषय में यह भी माना था कि वे अवैदिक थे। यह द्वितीय अंक (पृ. ३०) में चेटी और विदूषक के निम्नलिखित संवाद से ज्ञात होता है। विदूषक से परिहास करते हुए चेटी कहती है कि मैं भोजन का निमंत्रण देने के लिए किसी ब्राह्मण को ढूँढ रही हूँ। तब विदूषक, जो कि ब्राह्मण है, कहता है—"भोदि! अहं को समणओ?" (देवि! मैं क्या श्रमण हूँ?)। चेटी परिहास में कहती है—"तुवं किल अवेदिओ" (हाँ, तुम अवैदिक हो)।

इस प्रकार यदि भास का समय ई० पू० चतुर्थ शताब्दी माना जाय, तो दिगम्बरमुनियों का अस्तित्व उनके पूर्व से सिद्ध होता है और यदि तृतीय शताब्दी ई० स्वीकार किया जाय, तब भी यह सिद्ध होता है कि उनकी परम्परा इसके पूर्व से चली आ रही थी और ऋग्वेद तथा महाभारत के उल्लेखों से सिद्ध है कि वह ईसापूर्व-शताब्दियों से प्रचलित थी।

९

मत्स्यपुराण (३०० ई०) में निष्कच्छ, निर्ग्रन्थ, नग्न

डॉ० एस.बी. जी शिवाले ने बतलाया है कि मत्स्यपुराण प्राचीनतम पुराण माना जाता है, क्योंकि केवल इसी में २३६ ई० के आन्ध्रवंश का वर्णन है, गुप्तवंश का इसमें उल्लेख नहीं है।[१०]

इस पुराण में जिनधर्म को विनाश का कारण सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित कथा गढ़ी गई है। राजा रजि के पुत्रों ने इन्द्र का साम्राज्य छीन लिया। तब उसने गुरुस्थानीय के पास जाकर प्रार्थना की, कि मुझे ऐसा राज्य वापिस दिलाने के लिए कुछ उपाय कीजिए। बृहस्पति ने ग्रहशान्तिविधान तथा पौष्टिक कर्म करके इन्द्र को यज्ञपशु तथा माहसी बना दिया और राजपुत्रों के पास जाकर उन्हें मोहित कर जैनधर्मावलम्बी बना दिया, जिससे वे वेदधर्म से च्युत होकर विनाश के योग्य हो गये। तब इन्द्र

१०. भारतीय इतिहास की रूपरेखा / पृ.२१२।

७

पंचतंत्र (३०० ई०) में नग्नक, क्षपणक, दिगम्बर, धर्मबुद्धि

गुर्जरेश्वर संस्कृतसाहित्य-इतिहासकार पं० धर्मदेव उपाध्याय लिखते हैं—"पंचतंत्र की बहत्तिथें बड़ी प्रचलित हैं। बृहत्कथा (तीसरी शताब्दी) तथा तन्त्राख्यायिका के रूप में उसका मौलिक रूप आज भी हमारी सेवा के लिए विद्यमान है। --- वैदेशिक तथ्य यह है कि जब यह ग्रन्थ अरब में भारत का तथा भारत का ग्रीक सम्बन्ध बढ़ा, तब इस रोचक तथा उपदेशप्रद कथाओं की ओर पश्चिम के न्यायी बादशाह खुसरो नौशेरवाँ (५३१ ई०-५७९ ई०) की दृष्टि आकृष्ट हुई। इनके दरबारियों में एक विद्वान् थे, उनका नाम था बुरजोई। इन्हीं हकीम महाशय ने पहले पहल पञ्चतन्त्र का प्रथम अनुवाद पहलवी (प्राचीन पारसी) भाषा में ५३३ ई० में किया था।"(संस्कृत-साहित्य का इतिहास / पृ. ४२४-४२५)।

पंचतंत्र के सबसे प्राचीन संस्करण में कौटिल्य के अर्थशास्त्र को उद्धृत किया गया है, अतः इसके रचनाकाल की पूर्व सीमा तीसरी शताब्दी ई. पू. पहले जा सकती है। हर्टेल पंचतंत्र के प्राचीनतम संस्करण का रचनाकाल दूसरी शती ई० पू० बताते हैं। विंटरनित्स ने पंचतंत्र के वर्तमान स्वरूप का निर्माणसमय ३००-४०० ई० के आसपास माना है, पर वे यह भी स्वीकार करते हैं कि अपने मूल रूप में यह ग्रन्थ इससे पहले अस्तित्व में आ चुका था।[1]

पंचतंत्र के 'अपरीक्षित कारक' में चलती हुई कथा मणिभद्र बेड़े बने हैं जो नाग अपनों पर आशंकित है। मणिभद्र सेठ लिखे ही जाता है और निर्भीक हो दुःखी होकर आत्महत्या का निश्चय कर ही जाता है। स्वप्न में उसके पूर्वपुरुषों द्वारा उपार्जित पद्मनिधि क्षपणकरूप में दर्शन देकर कहती है—"तुम निराश न होओ। मैं तुम्हारे इसी रूप में तुम्हारे घर आऊँगी। तुम मेरे सिर पर लाठी से प्रहार करना, मैं स्वर्ण बन जाऊँगी। उसे तुम रख लेना।" तुम्हारे ऐसा ही हुआ। क्षपणक प्रकट हुआ और सेठ ने उस पर लाठियों से प्रहार किया। वह स्वर्ण बन गया। सेठ ने उठाकर उसे घर में रख लिया। सेठ की पत्नी ने इस घटना के पूर्व एक नाई को पैर धोने के लिए बुलाया था। इसने यह सारी घटना देख ली। सेठ ने उसे धन और धन देकर सन्तुष्ट किया और कहा कि तुम यह बात किसी से न कहना।

नाई घर जाकर सोचने लगा कि ये नग्न क्षपणक सिर पर लाठियों का प्रहार करने से स्वर्ण बन जाते हैं। इसलिए मैं भी ऐसा ही करूँगा। प्रातः वह क्षपणकविहार में जाकर प्रधानक्षपणक को 'नमोऽस्तु' निवेदित कर प्रार्थना करता है कि "आज आप

---

१. डॉ० मोतीलाल मेनारिया : संस्कृत साहित्य का अतिहास (हिन्दी), पृ. ३८०-३८१।

समस्त मुनिगण सहित आहार के लिए मेरे घर पधारें।" प्रधान क्षपणक ने कहा—"हम ब्राह्मणों के सम्मान आमंत्रण करने पर नहीं आते। आहार के साथ श्रावकों की बस्ती में जाते हैं और जो श्रावक भक्तिपूर्वक हमारी अभ्यर्थना करता है, उसी के यहाँ आहार ग्रहण करते हैं।" नाई ने कहा—"यह बात मैं जानता हूँ, लेकिन मेरी घुस्सारी के आकर्षण योग बहुतसा धन इकट्ठा कर रखे हैं और घुमक्कड़ों का लेखन बताने के लिए लेखकों को देने हेतु धन भी संचित करके रखा है। इसलिए आप पक्षपातित्व करें करें।" यह कहकर वहाँ चला गया और घर में एक ओर का लट्ठ तैयार कर किवाड़ों के पीछे छिपा दिया। उसके बाद वह पुनः विहार गया और जब वे क्षपणक आहारचर्या के लिए विहार से निकल रहे थे, तब उनके अगले पर चलने के लिए चर्बी चिन्तें करने लगा। वे क्षपणक भी धन और धन के लोभ में आए थे, श्रावकों को छोड़कर उसके घर चल गये। ज्यों ही वे नाई के घर में प्रविष्ट हुए, नाई ने किवाड़ बन्द कर दिये और मुनियों के सिर पर लट्ठ मारने लगा। कुछ मुनि तत्काल मर गये और कुछ चीत्कार करते हुए इधर-उधर भागने लगे। चीत्कार सुनकर सिपाही आये और सारा वृत्तान्त जानकर नाई को पकड़कर ले गये और उसे सूली पर चढ़ा दिया। कथा का आवश्यक संस्कृतपाठ नीचे दिया जा रहा है—

"चारित्रोऽपि स्वगृहं गत्वा चिन्तितवान्—नूनमेते सर्वेऽपि नग्नकाः शिरसि दण्डहताः कालमनसं भजन्ति। तदहमपि प्रातः प्रभूतसाद्यं लगुडैः शिरसि हनिष्ये, येन प्रभूतं द्रव्यं ते भजन्ति। एवं चिन्तयित्वा गतेन निशा अतिवाहिता। अथ प्रभाते अभ्युद्गतः बृहल्लगुडमेकं प्रगुणीकृत्य क्षपणकविहारं गत्वा जिनेन्द्रस्य प्रदक्षिणत्रयं विधाय वामभागतो गत्वा चन्द्रप्रा नमस्तेऽस्तोत्रात्मकस्तवनमेतं श्लोकमाह—

जयन्ति ते जिन येषां केवलज्ञानशालिनम्।
आजन्मनः स्मशानानी खड्गोत्पलसन्निभम्॥

सा सिद्धा या जिनं स्तौति सन्ध्यायां चन्द्रिके रवम्।
नावेव च करौ श्लक्ष्णौ की कल्पद्रुमकरौ करौ॥

एवं संस्तुत्य ततः प्रधानक्षपणकमाशु शिरसिताहतवृषणः 'नमोऽस्तु, भट्टे' इत्युच्चार्य लब्धधर्मवृद्धाशीर्वादः मुण्डमालिकलम्बहारदेशः उत्तोलितदण्डपाणिः मत्तवारणवत्—"भगवन् अद्य विहरन्तिव्य सपालपुरीमामेतेषामनुग्रहे कर्तव्या।" न आह—"भोः श्रावक! चारित्रोऽपि किमेवं वदसि? किं वयं ब्राह्मणसमानाः? यद् आमन्त्रणं करोषि? वयं सदैव तत्कालनिर्वर्तनया क्षपणो भक्तिभाजं श्रावकमपरीक्ष्य नाम गृहे गच्छामः। तेन कृच्छ्रादभ्यर्थितस्तदगृहे प्राणधारणमात्रमाहारमात्रिकां कुर्मः। एतत् तथ्यम्। नैव मृषोऽपि कथनम्।"

इसे संस्कृतभूमि में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—"क्षपणकाः स्त्रीमुक्ति-निषेधक श्वेताम्बरभेदा नीलाम्बरा धर्मान्तिः" (पद्म.को. १९/१/७९/पृ. ५०)।

वैदिकपुराण के 'महाभारत' के अतिरिक्त अन्य धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रन्थों में भी 'क्षपणक' शब्द से 'दिगम्बर जैन मुनि' अर्थ ही लिया गया है। यथा—

१. "यद्य क्षपणका इव दृश्यन्ते मलधारिणः" (स्कन्दपुराण / वैष्णवखण्ड, २४/३९)।

२. "नग्नक्षपणकादीनां ---।" (श्रीमद्भागवतपुराण / शंकरभाष्य / १८ / ३३)।

३. "क्षपणाश्च सदा पूज्या अहिंसा ध्यानयुक्तया।" ३०॥ (पद्ममहापुराण / भूमिखण्ड)।

संस्कृतसाहित्य के चारुदत्तनाटक, पञ्चतन्त्र, मुद्राराक्षस, कादम्बरी, हर्षचरित, प्रबोधचन्द्रोदय आदि ग्रन्थों में दिगम्बरजैन मुनि का वर्णन क्षपणक या नग्नक्षपणक नाम से ही किया गया है। इन ग्रन्थों के उद्धरण स्वतन्त्र शीर्षकों में आगे द्रष्टव्य हैं।

कोशग्रन्थ शब्दकोशों में भी 'क्षपणक' शब्द को दिगम्बरजैन मुनि का वाचक बतलाया गया है। यथा—

१. कणाटे दिग्वासाः क्षपणः श्रामणश्च जीवकश्च जैनः।
आजीवो नग्नश्रमणो निर्ग्रन्थः कथ्यते सद्भिः॥ २/११०॥
हलायुधकोश।

२. "नग्नो वन्दिक्षपणयोः पुंसि विधु दिगम्बरे।" (मेदिनीकोश / ५.१३)।

३. "निर्ग्रन्थः क्षपणाख्यश्च।" (लोकप्रकाश८ / ५३)।

४. Kshapanaka = a religious mendicant, (especially a) Jaina mendicant who wears no garments. (M. Monier Williams : Sans.-Eng. Dictionary, p. 326)

प्राकृत भाषाओं के विशेषज्ञ प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ० रिचार्ड पिशल ने अपने 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' नामक ग्रन्थ के 'विषयप्रवेश' (पृ. ३९) में लिखा है—"प्रबोधचन्द्रोदय के पेज ४६ से ५४ तक एक क्षपणक आता है, जो दिगम्बर जैन साधु बनाया गया है।---अट्टजल्पनक के पेज १२-१५ और २० से २८ वें पेज में एक दिगम्बर पात्र नाटक में खेल करता है, जो मागधी बोलता है। यह बात ध्यान में रखने चाहिए कि नाटकों में सर्वत्र ये 'क्षपणक' दिगम्बर होते हैं।"

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि दिगम्बर, श्वेताम्बर और वैदिक परम्परा के साहित्य में तथा संस्कृतसाहित्य एवं शब्दकोशों में 'क्षपणक' शब्द का प्रयोग दिगम्बरजैन मुनि के अर्थ में किया गया है।

महाभारत के आदिपर्व में महर्षि उत्तङ्क की कथा में नाग क्षपणक का उल्लेख हुआ है। अर्जुन के पौत्र और अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित युधिष्ठिर के बाद हस्तिनापुर के राजा बने। नागराज तक्षक के डसने से उनकी मृत्यु हो गई। परीक्षित के पुत्र जनमेजय पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए सारपर्व सर्पजाति का विनाश करने हेतु यज्ञारंभ करते हैं। उसमें समस्त सर्प जला दिये जाते हैं, किन्तु आस्तिक ऋषि की कृपा से तक्षक के प्राण बच जाते हैं। इस यज्ञ के कारण ही वैशम्पायन ने जनमेजय को कृष्णद्वैपायन व्यास द्वारा रचित महाभारत को तीनों कथाएँ सुनाईं। जनमेजय ने भी आस्तिक्य के बल का प्रत्यक्षीकरण करने के लिए उन कथाओं को ध्यान से सुना (आदिपर्व / अध्याय १ / श्लोक १-११ / पृ.२)।

उन कथाओं को वहाँ सूतकुलोत्पन्न लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा ने भी सुनाईं। वे पुराणों के ज्ञाता और कथावाचक थे। वे नैमिषारण्य में महर्षि शौनक के द्वादशवार्षिक सत्र में आये। वहाँ एकत्र ऋषियों को उन्होंने महाभारत की कथा सुनाई (आदिपर्व / अध्याय १)। इसी क्रम में वे 'पौष' के शिष्य उत्तङ्क को गुरुभक्ति की कथा सुनाते हैं। उत्तङ्क ने ही जनमेजय को सर्पयज्ञ के लिए प्रोत्साहित किया था (आदिपर्व / अध्याय ३)। कथा इस प्रकार है—

महर्षि उत्तङ्क अपने गुरु वेद को गुरुदक्षिणा देने के लिए गुरुपत्नी की इच्छानुसार राजा पौष्य की महारानी के कुण्डलयुगल माँगने जाते हैं। महारानी दे देती हैं, किन्तु सावधान करती हैं कि इन कुण्डलों पर नागराज तक्षक की आँखें गड़ी हुई हैं, अतः अति सावधानी से लेकर जाना। उत्तङ्क 'आज मैं चलता हूँ' कहकर राजा से विदा लेते हैं और कुण्डल लेकर चल पड़ते हैं। रास्ते में वे अपने पीछे आते हुए एक नग्न क्षपणक (दिगम्बरजैन मुनि) को देखते हैं, जो कभी दिखाई देता है, कभी अदृश्य हो जाता है। कुछ दूर जाकर उत्तङ्क एक स्थान पर नित्यकर्म हेतु बैठते हैं और स्नान के लिए जल में प्रविष्ट हो जाते हैं। तभी वह क्षपणक वेशी से आता है और दोनों कुण्डल लेकर भाग जाता है। उत्तङ्क स्नान-वर्तन कर उस क्षपणक का पीछा करते हैं और उसे पकड़ लेते हैं। पकड़े जाने पर वह क्षपणक का रूप त्याग देता है और अपना वास्तविक (राक्षसवाला का) रूप धारण कर पृथ्वी के बहुत बड़े बिल में घुस जाता है। मूल पाठ इस प्रकार है—

"साधयामस्तावदित्युक्त्वा प्रतिस्रोतोमुखे कुण्डले गृहीत्वा स्नेऽप्यवदध्य पौष्यं क्षपणकपाणाचलने मुहूर्तंदूर्ध्वमाकाशदृश्यश्चचार च।

अधोमुखे कुण्डले संन्यस्य भूमावुत्कार्थ पचक्रमे। एतौमन्तरेण स क्षपणकान्यायेन उपसृत्य ते कुण्डले गृहीत्वा जवेन।

तमुत्क्रोऽभिमृत्य कृतोदकक्रियः शुचिः प्रयतो नमो देवेभ्यो गुरुभ्यश्च कृत्वा यहता जवेन तमन्वयात्।

तस्य लक्षको दुष्प्रसहनः स तं जघाह। गृहीत्वाऽः स तद्दण्डं विहाय लक्षकरूपं कृत्वा महता बलेनाभि विद्युत् महाबिलं प्रविवेश।" (महाभारत / आदिपर्व / कुंभोज आवृत्ति पृ.५७)।

उपर्युक्त का आशय यह है कि नागराज तक्षक ने कुरुवंशी का अपहरण करने के लिए नग्न क्षपणक अर्थात् दिगम्बरजैन मुनि का रूप धारण किया था, जैसे रावण ने सीता के अपहरण के लिए साधु का वेश धारण किया था। इससे यह ध्वनित होता है कि उस समय दिगम्बरजैन मुनि लोक में आदर और श्रद्धा से देखे जाते थे। इसीलिए धूर्तलोग दूसरों को ठगने के लिए दिगम्बरजैन मुनि का वेश धारण करते थे।

उग्रश्रवा जनमेजय के समकालीन थे। जनमेजय परीक्षित के पुत्र, अभिमन्यु के पौत्र तथा अर्जुन के प्रपौत्र थे। इससे यह तथ्य सामने आता है कि महाभारत में वर्णित उपाख्यान उसकी रचना के पूर्व से कुरुवंश में प्रचलित थे। उन्हें इतिहास और पुराण कहा गया है। इसका मन्थन करके ही व्यास जी ने महाभारत की रचना की थी, जैसा कि उसमें कहा गया है—

इतिहास-पुराणाभ्यामुपबृंहयेत् त्रिभिर्नयं च यत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति॥ १/१/६३॥

उग्रश्रवाप्रोक्त महाभारत के आदिपर्व के पौष्यपर्व नामक तृतीय अध्याय में वर्णित है, अतः उग्रश्रवा की कथा में नग्न क्षपणक का एक पात्र के रूप में उपलब्ध सिद्ध करता है कि जितने प्राचीन 'महाभारत' के (जनमेजय, वैशम्पायन आस्तीक, आयोदधौम्य उपमन्यु, महाराज पौष्य आदि) पात्र हैं, उससे भी अधिक प्राचीन दिगम्बरजैन मुनियों (नग्न क्षपणकों) की परम्परा है, तभी तत्कालीन समाज में वे अहिंसा, शील, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रतादि विशिष्ट गुणों के रूप में प्रसिद्ध और मूर्तिमन्त थे, जिनके आश्रय लेकर उपमन्यु को उगने के लिए दिगम्बरजैन मुनि का रूप धारण करना है और उपमन्यु उसे असली में दिगम्बरजैन मुनि समझ कर कुण्डलों के अपहरण से शंकित नहीं होते और आश्वस्त होकर उन्हें सरोवर के किनारे पर रखकर स्नान के लिए जल में प्रविष्ट हो जाते हैं।

अतः उग्रश्रवा परीक्षितपुत्र जनमेजय के समकालीन थे, अतः वे द्वापरयुग में विद्यमान थे। हिन्दूकालगणना सृष्टिकाल चार युगों में विभाजित किया गया है : कृत

या कृतयुग (अर्थात् १७,२८,००० वर्ष), त्रेता (१२,९६,००० वर्ष), द्वापर (८,६४,००० वर्ष) और कलियुग (४,३२,००० वर्ष)। वर्तमानयुग कलियुग है। (नागरी शिब्दसागर आदि : संस्कृत-हिन्दीकोश/'युगम्')। कलियुग का आरम्भ ईसापूर्व ३१०२ वर्ष की १७ फरवरी को हुआ था (ओझे/संस्कृत-हिन्दी-कोश/'कलि:')। इस कालगणना के अनुसार सिद्ध होता है कि दिगम्बर जैन मुनियों का अस्तित्व द्वापरयुग में अर्थात् आज से लक्षपक्ष आठ लाख चौसठ हजार वर्ष के पूर्व भी था।

यह महाभारत में नग्न क्षपणक के उल्लेख से सिद्ध होता है कि दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय का अस्तित्व 'महाभारत' के रचनाकाल (५००ई.पू. से १००ई.पू.) से भी प्राचीन है।

तत्त्वनिर्णयप्रासाद ग्रन्थ के लेखक श्वेताम्बराचार्य मुनि श्री विजयानन्दसूरीश्वर 'आत्माराम' जी (वि॰ सं॰ १९१४ के लगभग) ने भी उक्त कथा के आधार पर जैनधर्म को वेदव्यास जी के जन्म से पूर्वकाल प्रतिपादित किया है। किन्तु, उन्होंने नग्नक्षपणक को दिगम्बरजैन मुनि न मानकर श्वेताम्बर जिनकल्पिक मुनि माना है, क्योंकि वे भी नग्न रहते थे। पर उनका यह मत पूर्वोद्धृत प्रमाणों के विरुद्ध है। पूर्व में दिगम्बर-साहित्य, श्वेताम्बरसाहित्य, बौद्धिकासाहित्य, संस्कृतसाहित्य तथा शब्दकोशों से जो उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं, उनसे स्पष्ट है कि भारत के सभी धार्मिक सम्प्रदायों में 'क्षपणक' शब्द दिगम्बरजैन मुनियों के लिए ही प्रसिद्ध था। उपर्युक्त सम्प्रदायों के साहित्य तथा संस्कृतसाहित्य में क्षपणकों को यथार्थदेवसहित तथा 'धर्मवृद्धि' का आशीर्वाद देते हुए चित्रित किया गया है, जो केवल दिगम्बरजैन मुनि के लक्षण हैं। इससे उपर्युक्त तथ्य में सन्देह के लिए किंचित् भी स्थान नहीं रहता। इसकी विस्तार से चर्चा आगे की जायेगी।

६
चाणक्यशतक (४०० ई॰ पू॰) में नग्नक्षपणक

यह नीति के पद्यों का ग्रन्थ है। इसके रचयिता चाणक्य हैं, जो ई॰ पू॰ चतुर्थ शताब्दी में मगध सम्राट् चन्द्रगुप्त के प्रधानमंत्री थे। उन्होंने अपने शतक के ११०वें श्लोक में लिखा है—"नग्नक्षपणके देशे राजकः किं करिष्यति" (आप्टे-कृत संस्कृत-हिन्दी कोश/पृ. ३१५) अर्थात् जिस देश में नग्नक्षपणक हो रहते हों, वहाँ धोबी का क्या काम? इससे भी सिद्ध होता है कि ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी में दिगम्बरजैनमुनि-परम्परा विद्यमान थी।

किया—"किस दिशा से आप अन्तर्हित हो जाते हैं?" बालखिल्य मुनियों ने उन्हें अपने अभ्यासक्रम से आए हुए अतिथि जानकर कहा—"हे मुनिजनो! आपसे नमस्कार! इस आपकी सपर्या (सत्कार) किसने करें?" ऋषियों ने कहा—"हमें चरित्र आत्मविद्या का उपदेश दीजिये, जिससे दुख विनाश हो जायें।"

दिगम्बर जैनाचार्य जिनसेनकृत आदिपुराण में इन्द्र द्वारा एक हजार नामों से भगवान् आदिनाथ की स्तुति की गई है, जिनमें एक नाम 'वातरशन' है, जो दिगम्बर, निस्पृह और निर्ग्रन्थ का पर्यायवाची है—"दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थेशो निरम्बरः।" (आदि० पुराण/२५/२०४)।

४

निघण्टु (८०० ई० पू०) में श्रमण, दिगम्बर, वातरशन

शब्दसूची, विशेषरूप से वैदिक शब्दसूची को निघण्टु कहते हैं। इसकी व्याख्या महर्षि यास्क ने अपने निरुक्त में की है। इससे स्पष्ट है कि निघण्टु यास्क-निर्मित 'निरुक्त' से प्राचीन है। "यास्क चतुर्दश से प्राचीन हैं। महाभारत के शान्तिपर्व (अध्याय ३४२) में यास्क के निरुक्तकार होने का स्पष्ट निर्देश है—

> स्तुत्या यं शितिपिङ्गेति यास्क ऋषिरदार्धीः।
> पत्याख्यातपदं नष्टं निरुक्तमधिजग्मवान्॥ ७३॥

इस उल्लेख के आधार पर भी हम यास्क को विक्रम से सात-आठ सौ वर्ष पूर्व मानने के लिए बाध्य होते हैं।"[2]

अतः 'निघंटु' का रचनाकाल इससे भी पूर्व का है। वाल्मीकि रामायण (८०० ई०पू०) में कहा गया है कि राजा दशरथ के पक्ष में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और अन्य आहत ग्रहण करते थे—

> ब्राह्मणा भुञ्जते नित्यं नाथवन्तश्च भुञ्जते।
> श्रमणा भुञ्जते चापि अपपात्रेषु भुञ्जते॥ १४/१२॥

इस रामायण की भूषणटीका में 'निघंटु' को उद्धृत करते हुए 'श्रमण' शब्द का अर्थ 'दिगम्बर' और वातरशन (वायु ही है वस्त्र जिसका) बतलाया गया है, यथा—"श्रमणा दिगम्बरा श्रमणा वातरशना इति निघण्टुः।"[3]

निघण्टु का यह उद्धरण इस बात का साक्षी है कि ईसा से ८०० वर्ष पहले दिगम्बर जैन मुनियों का अस्तित्व था।

२. आचार्य बलदेव उपाध्याय : वैदिक साहित्य और संस्कृति / पृ. ३५१।
३. पं० अजित कुमार शास्त्री : श्वेताम्बर मत समीक्षा / पृ.१०८।

बृहदारण्यकोपनिषद् जो बहुत प्राचीन है, उसमें भी श्रमणों का उल्लेख है—"श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसः।"(४/३/२२)। अतः यास्क का श्रमणों से परिचित होना स्वाभाविक है।

श्रीमद्भागवतपुराण में भी श्रमणों को 'वातरशन' (वायु को स्वक अर्थात् कौपीन धारण करनेवाला) कहा गया है—"श्रमणा वातरशना आत्मविद्या विशारदाः।" (११/२/२०)।

५

महाभारत (५००-१०० ई० पू०) में नग्न क्षपणक

सुप्रसिद्ध संस्कृतसाहित्य-इतिहासकार बलदेव उपाध्याय 'महाभारत' की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—

"आजकल महाभारत में एक लाख श्लोक मिलते हैं, इसलिए इसे 'शतसाहस्री संहिता' कहते हैं। इसका यह स्वरूप ७वीं से ४थी ईसवी शती के अवश्य है, क्योंकि गुप्तकालीन शिलालेख में यह 'शतसाहस्री संहिता' के नाम से उल्लिखित हुआ है। विद्वानों का कहना है कि महाभारत का यह रूप अनेक शताब्दियों में विकसित हुआ। बहुत प्राचीनकाल से अनेक गाथाएँ तथा आख्यान इस देश में प्रचलित थे, जिनमें कौरवों तथा पाण्डवों की कीर्ति का वर्णन किया गया था। अगस्त्यगीत में सौमित का आख्यान उपलब्ध होता है। अन्य वैदिक ग्रन्थों में यत्र-तत्र महाभारत के वीर पुरुषों की गाथाएँ उल्लिखित मिलती हैं। इन्हीं सब गाथाओं और आख्यानों को एकत्र कर महर्षि वेदव्यास ने जिस काव्य का रूप दिया है वही आजकल का मुप्रसिद्ध महाभारत है।"[4]

"४००ई० (५०२ वि०) के एक शिलालेख में महाभारत का निर्देश इस प्रकार है—'शतसाहस्र्यां संहितायां वेदव्यासेनोक्तम्।' इससे प्रतीत होता है कि इससे कम से कम २०० वर्ष पहले इसका अस्तित्व अवश्य होगा। कनिष्क के सभापण्डित अश्वघोष ने वज्रसूची उपनिषद् में हरिवंश के श्लोक तथा स्वयं महाभारत के भी कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं। अश्वघोष का समय ई० सन् की प्रथम शताब्दी है। अतः उस समय यह ग्रन्थ हरिवंश के साथ लक्षश्लोकात्मक था, इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। आश्वलायन गृह्यसूत्र (३/४/४) में भारत तथा महाभारत का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है। बौधायन के गृह्यसूत्र में 'विष्णुसहस्रनाम' का स्पष्ट उल्लेख है तथा पतञ्जलि का एक श्लोक महाभाष्य से उद्धृत किया गया है। इन दोनों ग्रन्थकारों

४. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास / पृ. ८१-८२।

की स्थिति ईसाके लगभग चार सौ वर्ष पहले मानी जाती है। ये दोनों ग्रन्थकार महाभारत के विद्यमानरूप से परिचित हैं, पाणिनि को भारतकार के रूपमें ये जानते हैं, तथापि ये उपाख्यानका निर्देश करते हैं। अतः स्पष्ट है कि मूल महाभारत को रचना इससे (४०० ई०पू० से) कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व अवश्य हुई होगी। महाभारत बुद्ध के पहले की रचना है, किन्तु वर्तमान रूप उसे बुद्ध के पीछे प्राप्त हुआ, यही मानना न्यायसंगत है।"[५]

श्री वी० एस० त्रिपिया प्राचीन भारतीय संस्कृति में लिखते हैं—"मैकडानल ने महाभारत का रचनाकाल ५०० ई०पू० और विन्टरनीट्ज ने ४०० ई०पू० माना है। डी आर० जी० भण्डारकर का मत है कि ईसासे पूर्व ५०० तक महाभारत एक प्रसिद्ध धार्मिक ग्रन्थ बन चुका था। --- महाभारत के मूलग्रन्थ में अनेक वीरगाथाओं, आख्यानों, धार्मिक तथा दार्शनिक विषयों और उपदेशों को सम्मिलित कर लिख गया। समय-समय पर उसमें अनेक प्रक्षेप जोड़ दिये गये। --- महाभारत के कुछ भागों में भारत में रहनेवाली विदेशी जातियों यूनानी, शक, पह्लव आदि का उल्लेख है। ये जातियाँ भारत में ईसासे पूर्व पहली और दूसरी शताब्दी में आयीं। इससे प्रकट होता है कि ईसापूर्व की प्रारंभिक सदियों में महाभारत के महाकाय में परिवर्तन और परिवर्धन हो गये थे। ईसापूर्व दूसरी शताब्दी में, पतञ्जलिकृत 'महाभाष्य' ग्रन्थ के समय में, महाभारत का वर्तमानरूप सर्वोपरि था। महाभारत में विष्णु और शेषनाग का विशद विवरण है और ये भक्त ईसा के बाद की प्रारंभिक सदियों में खूब प्रचलित थे। गुप्तकाल में तो ये अपनी उन्नति के शिखर पर थे। भारत में और भारत के बाहर कम्बोडिया में पाँचवीं और छठी शताब्दियों के शिलालेखों में महाभारत एक धार्मिक ग्रन्थ के रूप में उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि ईसाकी सन् की पाँचवीं शताब्दी के पूर्व ही महाभारत का परिवर्तन और परिवर्द्धन सम्पूर्ण हो चुका था और उसका वह रूप निर्दिष्ट हो चुका था जो आज हमारे सामने प्रस्तुत है। डॉक्टर नगेन्द्रनाथ मुकर्जी का मत है कि महाभारत का यह परिवर्द्धित रूप ईसापूर्व की दूसरी शताब्दी तक पूर्ण हो चुका था। अन्य विद्वान् इसे ईसवी सन् के ३०० वर्ष पूर्व से १०० वर्ष पूर्व के मध्य में मानते हैं।"[६]

निष्कर्ष यह कि 'महाभारत' ई० पू० ५०० से ई० पू० १०० के बीच की रचना है। इसमें दिगम्बरजैन मुनि का वर्णन है। प्राचीनकाल में दिगम्बरजैन मुनि 'क्षपणक' नाम से प्रसिद्ध थे। 'क्षपणक' शब्द भादिगण एवं चुरादिगण की 'क्षप्' धातु में 'ल्युट्' एवं स्वार्थिक 'कन्' प्रत्ययों के योग से निष्पन्न है। भ्वादिगणी 'क्षप्' धातु का अर्थ है : संयम, तप, उपवास करना (क्षप् – to be abstinent, fast, do penance—

५. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास/पृ. ८३-८४।
६. वी.एस. त्रिपिया : प्राचीन भारतीय संस्कृति/ पृ.१५७।

M. Monier Williams : Sanskrit-English Dictionary. मनुस्मृति ५/६९, आप्टेकृत संस्कृत-हिन्दी कोश) तथा चुरादिगणी 'क्षप्' धातु का अर्थ है : फेंकना, त्यागना, नष्ट करना (to throw, क्षपण = destroying, diminishing, suppressing, expelling—M. Monier williams : Sans-Eng. Dictionary) अतः 'क्षपणक' शब्द संयमी-तपस्वी एवं उत्सर्ग-मार्गानुसारी-त्यागी दिगम्बरजैन मुनि का वाचक है। सातवीं शताब्दी ई० के दिगम्बरजैनाचार्य जोइंदुदेव ने परमात्मप्रकाश के निम्न दोहे में दिगम्बरजैन मुनि के लिए 'क्षपणक' शब्द का प्रयोग किया है—

तरुणउ बूढउ रूयडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु।
खवणउ वंदउ सेवडउ मूढउ मण्णइ सव्वु॥ १/८२॥

अनुवाद—"मैं तरुण हूँ, वृद्ध हूँ, रूपवान् हूँ, शूर हूँ, पंडित हूँ, दिव्य हूँ, क्षपणक हूँ, बौद्ध हूँ और श्वेतपट (श्वेताम्बर) हूँ, इस प्रकार मोह की सघन अवस्थाओं को मूर्ख जीव अपनी अवस्थाएँ मानता है।"

श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र (१२वीं सदी ई०) ने अपने कोष में 'क्षपणक' शब्द को 'नग्न' का पर्यायवाची बतलाया है—"नग्नो विवसनश्चाथ क्षपणोऽक्षपणो।"

'विशेषावश्यकभाष्य' के वृत्तिकार श्री हेमचन्द्रसूरि (१२वीं सदी ई०) ने भाष्य की २५८५वीं गाथा की वृत्ति में निम्नलिखित गाथा उद्धृत की है, जिसमें दिगम्बरमुनि को नग्नक्षपणक कहा गया है—

जारिसियं गुरुलिंगं सीसेण वि तारिसेण होयव्वं।
न हि होइ बुद्धसीसो संयवडो नग्गखवणो वा॥

अनुवाद—"जैसा गुरु का लिंग (वेष) होता है, वैसा ही शिष्य का भी होना चाहिए। बुद्ध का शिष्य श्वेतपटसाधु अथवा नग्नक्षपण नहीं हो सकता।"

एक अन्य श्वेताम्बरग्रन्थ प्रवचनपरीक्षा में दश कुपात्रोंकी में एक 'क्षपणक' नाम भी बतलाया गया है—

खवणग पुत्तियव खरपर पल्लविआ बहुपुत्तियागामिआ।
चडिया पुणिआणी बीआ पासो पुण संघई दासो॥ ८॥

इसकी वृत्ति में 'क्षपणका दिगम्बराः' (प्रवचनपरीक्षा/१/१/८/पृ.११) कहकर 'क्षपणक' शब्द का अर्थ स्पष्ट किया गया है।

इसी ग्रन्थ की एक अन्य गाथा में कहा गया है कि क्षपणक स्त्रीमुक्ति का निषेध करनेवाले पुरुष को लौकिक कहते हैं—"एवं खलु तित्थयरा इत्थीमुक्तिं निषेहयं खवणा"